श्रीहरिर्जयति ।

प्रेक्षावदुपच्छन्दनम् ।

यत्तद्वर्षचतुश्शतादपि
परेणाऽनेहसा न स्थितं
व्याख्यानं प्रतिवर्णवर्णित-
गुणोदारं श्रमोत्सादनम् ।
यस्याऽभावत एव नैव
विविदे पुष्टैः परैः प्रौढिमा
तच्छ्रीवल्लभनन्दनाङ्घ्रि-
रजसा सिद्धं समास्वाद्यताम् ॥



अभ्यर्थना ।

[१]

भवतः श्रीमदाचार्य्या भवदीयोऽहमाश्रये ।
मदीयोऽयं मदीयोऽयं विचारयत मामिति ॥

[२]

अज्ञानं विनिवर्त्ततां विगलतान्मिथ्याभिमानोदयः
सद्विद्याभ्यसनं जनस्य भवतात्प्रौढं च तेजस्वि च ।
सद्विद्यालयपूर्वकश्च भगवत्सेवादरो जायतां
मा भूत्कोऽपि कुतोऽपि कश्मलकृशोऽसत्सम्प्रदाये जनः ॥

[३]

श्रीमत्पादसरोजरेणुषु भवत्पुत्रेन्दुपादाब्जयोः
श्रीगोपीजनवल्लभे च विततः सेवानुरागोदयः ।
अस्माकं वितनोतु चेतसि मुदं कामप्यमन्दां सदा
सिद्धान्ताब्धिसुधा सुधाब्धिमधुरास्वादानुवादा च वः ॥



श्रीहरिर्जयति ।

उपस्थानम् ।

स्वस्ति श्रीमदमन्दमन्दरदरोन्मीलद्दयाघूर्णित-
क्षुभ्यत्क्षीरमहोर्म्मिमालिविलसल्लीलाविलासश्रियः ।
नानानिर्वचनीयविभ्रमभृतः क्रीडन्ति यत्कीर्त्तय-
स्ते श्रीगोकुलनाथदेशिकमहाराजाः प्रथन्तेतमाम् ॥ १ ॥

जयन्ति गोस्वामिगणाग्रगण्याः श्रीवल्लभाचार्यकुलावतंसाः ।
विशुद्धवेदाध्वविधानसावधानाः श्रिया गोकुलनाथपादाः ॥ २ ॥

भाग्यानि भारतभुवो वदनारविन्द-
सिन्दूरविन्दुसदृशा अपि मोहमय्याः ।
प्राणाः परावरपुषः परमार्थरुष्टे-
रप्याश्रयाः सुकृतिनां गुरवस्तुवुद्धेः ॥ ३ ॥

सौजन्यसौशील्यकृपाभिरामाः श्रीपुष्टिमार्गोदयबद्धकामाः ।
सच्छास्त्रसंशीलनयातयामा भवत्सु भूयासुरमी प्रणामाः ॥ ४ ॥

सनातनं वैदिकसम्प्रदायं श्रीपुष्टिमार्गे भुवि भासयन्तः ।
काले करालेऽपि कलौ जटाले सत्यं भवन्तोऽप्रतिमप्रभावाः ॥ ५ ॥

गोब्राह्मणत्राणपरायणानां प्रसाधिताशेषककुम्मुखानाम् ।
सदा सदाचारविचारकाणां पारं न यामो भवतां गुणानाम् ॥ ६ ॥

अग्रेसराणां सुधियां समाजे सद्धर्मपीयूषपयोधराणाम् ।
आचार्य्यसिंहासनमास्थितानां प्रकृष्यते कोऽपि परः प्रतापः ॥ ७ ॥

श्रीबालकृष्णमुखचन्द्रसुधाचकोरा-
स्तत्सेवयैव सकलस्य निरस्तघोराः ।
उद्घाटिताखिलजगत्परमार्थचोराः
श्रीमत्स्वरूपमविदः कथमेव किं वः ॥ ८ ॥

विद्वांसः परिपोषिताः परिजनस्त्रातो हतो दुष्पथः
पाण्डित्यं परिपूरितं निजजने भूयो धनं वर्पितम् ।
सत्याचारविचारसारसरणिः सम्यक् समभ्यासिता
श्रीकृष्णो हृदये न्यधायि सरसः पादस्पृशां मादृशाम् ॥ ९ ॥

गोरक्षा विहिता हिता व्यवहिता मध्ये खलोपद्रवैः
सद्धर्मः परिवर्द्धितः प्रकटितः सम्पादितः पाठितः ।
सद्विद्याविनयादिसद्गुणगणांल्लोकोऽयमध्यापितः
सन्मार्गः प्रचुरीकृतः परिहृतः पाटच्चरोपद्रवः ॥ १० ॥

व्याख्यानानि कृतानि तानि शतशः सङ्ख्यातिगानां सतां
यानीमानि मनः पिपासततिमाग्पेपीयमानान्यपि ।
सद्विद्यालयमाचरय्य विविधा विद्यार्थिनोऽध्यापिता
विद्वांसोऽप्यभिवर्द्धिता घनसमुत्साहादिदानैर्भृशम् ॥ ११ ॥

श्रीमद्भागवतस्य भूरि विदधे पारायणानां शतं
यत्राऽभ्यर्चित एव चारु ववृधे विद्वज्जनानां गणः ।
सर्वोपद्रवधारणाय च महायुद्धाग्निनिर्वापण-
प्रारम्भाय परपराक्रमपरं चक्रे सहस्रात्परम् ॥ १२ ॥

निगमगदितं पन्थानं स्वं सुखादवबोधय-
न्ननु विजयते ग्रन्थव्रातः परो महितः श्रिया ।
तमिह विशदीकर्तुं कर्तुं द्विषां मुखभञ्जनं
पुरु परिकरश्चक्रे मुद्रापणादिषु कर्मसु ॥ १३ ॥

तत्तद्भाषानुवादप्रकटनविधिना ग्रन्थगूढाशयानां
मर्मज्ञं मूढलोकं विकलमपि कृपाकर्मठत्वाद्वितेनुः ।
तत्तद्गीर्वाणभाषामयमधुमधुरप्रौढबन्धाभिबन्धा-
न्निर्माप्याऽपि स्वमार्गे दिशि दिशि दिदिशुर्बुद्धये शुद्धये च ॥१४॥

अनुजगृहुश्च मामविरलेन महामहसा
भगवदनुग्रहेण सहसैव विधाय कृपाम् ।
उपनिषदां विधेहि शिशुभाष्यमिति क्षरता
निजवचनामृतेन शिशिरेण शिवं सृजता ॥ १५ ॥

श्रीश्रीमद्वल्लभाधीश्वरकुलकमलोल्लाससूर्योदयानां
श्रीश्रीमद्बालकृष्णप्रभुपदनलिनद्वन्द्वसेवापराणाम् ।
विद्वद्भिर्वन्दितानामगणितगुणगीर्गेयगाथागुरूणां
गीयन्ते गौरवाणि प्रतिदिशमनिशं श्रीमतां स्वर्वधूभिः ॥१६॥

तत्तद्दुस्सहदुर्विपक्षिदहनज्वालावलीढोऽपि यः
श्रीमद्गोकुलनाथदेशिकदयादृष्ट्या समुज्जीवितः ।
तेषामेव कृपाविशेषविशदज्योत्स्नाचकोरायितो
भट्टश्रीबलभद्रशर्मसुकृतीशावास्यभाष्यं व्यधात् ॥ १७ ॥
एषा मे परमश्रमेण विहिता चिन्तावता चेतसा
श्रीमत्पादसमर्हणैकहृदया रम्याकृतिर्व्याकृतिः ।
सानन्दं विनयावनम्रहृदयं चैषाऽर्पिता पादयोः
सा श्रीमत्करपल्लवे विलसिता फुल्लारविन्दायताम् ॥ १८ ॥
श्रीकृष्णजीवनबुधैर्भवदीयपुन-
वर्यैः प्रशस्ततमपण्डितपुण्डरीकैः ।
दत्तादरा सहृदयैरभिनन्दिता च
सा वः कृतिर्हृदि चमत्कृतिमातनोतु ॥ १९ ॥
श्रीदीक्षितैर्वैस्तनयैर्द्वितीयैरशेषशास्त्राणि विदां वरेण्यैः ।
कृपाभिवर्षाजनितप्रकर्षा हर्षावहा वः कृतिनां कृतिः स्यात् ॥ २० ॥
जीवञ्जीवं सुखयन् कुवलयमुल्लासयंस्तमांसि हरन् ।
विकिरन्नमृतान्यभितः श्रीगोकुलनाथचन्द्रमा जयति ॥ २१ ॥
इत्युपहरति श्रीमत्समर्हणाभ्यासयद्बहुमानः ।
नित्यानुकम्पनीयो बलभद्रः किङ्करो भवताम् ॥ २२ ॥

शुभम् ।



श्रीहरिर्जयति ।

कृपा-कटाक्ष की प्रार्थना ।

"शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः"

वेद वेदाङ्ग आदि वेदानुकूल शास्त्रों को पढ समझ कर मन वचन और तनसे श्रीकृष्ण भगवान की सेवा करनी चाहिये । वेदों का यही तात्पर्य है ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण.

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण-प्रदर्शित-प्रवर्तित श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय एकदेशी नही । पर निर्विवाद विश्व-धर्म है । यह बात ऊपर दी हुई पंक्ति से परिस्फुट है ।

क्यों कि सभी आस्तिक वैदिक आचार्य-गण उक्त सिद्धान्त मे परिपूर्ण-रीत्या एकमत हैं । किसी का कोई वाद विवाद नही है ।

श्रीशङ्कराचार्यजी भी श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानते हैं । अनादि-सिद्ध वैदिक धर्म की रक्षार्थ प्रकट हुए स्वीकार करते हैं । और उनकी सेवाको स्वधर्म समझते हैं। तभी तो श्रीकृष्ण-जयन्ती आदि जयन्तियों पर व्रतादि के सदाचार का परिपालन उनके सम्प्रदाय मे प्रचलित है ।

श्रीमद्भगवद्गीता पर उनने भाष्य किया है । श्रीमद्भगवद्गीता को प्रमाण मानने वाले श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा जगदीश परात्पर पुरुषोत्तम माननेसे और तन धन मन से उनकी सेवा करनेके सिद्धान्त से विमुक्त नही रह सकते ।

शास्त्रज्ञ से बातचीत है । उद्धत की धृष्टता और निर्लज्जता का कोई उत्तर नही ।

साम्राज्य-शासन सर्वदेशी सर्वानुकूल सर्व-सुखद सर्व-मर्यादा-संरक्षक सर्वनिर्वाहक सर्वांश-पूर्ण होता है—सङ्घर्ष-रहित परस्पर-प्रेम-परिपूरित व्यवस्थित सबके लिये सावकाश होता है । वही उदारता पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय भी रखता है ।

घरेलू घुसपुस नहीं पर पंचायती बात है। और पंचायती फैंसला है। बाड़ाबंदी नहीं गोलमाल नहीं पर विश्व-हित की चर्चा और सर्वदेशी दंगली सिद्धान्त है। सच्चा है स्वच्छ है प्रकाश से परिपूर्ण है। अन्धकार को वहां अवकाश नहीं है। प्रामाणिक और निस्संशय अनुसरणीय है।

वैदिक ही नहीं वैदिक-मूर्धन्य है। वैदिक दो प्रकारके होते हैं। एक वह जो यथाविधि वेदाध्ययन-पूर्वक प्राप्त किया गया हो। दूसरा वह जो स्वयं वेद भगवान के ही हृदय का अभिप्राय हो किंवा वेद के प्रवर्त्तक स्वयं परमेश्वर के हृदय का आशय हो।

दूसरे मत वेदानुकूल हैं तो वैदिक हैं। पर श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय तो स्वयं वेद भगवान का ही साक्षात् हार्द निर्णय है। और वेद-प्रवर्तक परमेश्वर श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता आदि द्वारा दुहरा कर परिस्फुट किया है। वेद से अतिरिक्त व्यक्ति किसी वेदानुवर्ती का मत नहीं है। साक्षात् स्वयं वेद भगवान का ही मत है। उसे वैदिक मत न कह कर "वेदमत" कहना अधिक उत्तम है।

क्यों जी! जब सभी मत शास्त्राध्ययन-पूर्वक श्रीकृष्णसेवा मे सहमत हैं तो सभी मत वेदमत और विश्वधर्म हुए? नहीं! यह बात नहीं! वे मत वैदिक हैं— वेदानुकूल हैं—वेदानुवर्ती हैं। पर वेदमत और विश्वधर्म नहीं। क्यों? इस लिये कि वे इस सिद्धान्त से सहमत तो अवश्य हैं पर प्रवर्त्तक नहीं। अन्य किसी भी वैदिक मत में श्रीयशोदोत्सङ्गलालित श्रीनन्दराज-कुमार श्रीगोपीजनवल्लभके भावसे भगवदाराधनका प्रकार प्रचलित नहीं है। यही प्रत्यक्ष इसका पर्याप्त प्रमाण है। सहमत होते हुए भी काबा काट कर द्रविड प्राणायाम से सहमत होते हैं। श्रीबालकृष्णलाल आदि नाम और व्रजस्थाराधन प्रकार को छोड कर पंचरात्राद्युक्त आराधन प्रकार और नारायण वासुदेव आदि नाम से उनका [2]आराधन प्रकार चलता है। श्रीमद्भगद्गीता के "मत्तः परतरं नान्यत्" इत्यादि वचनों के अनुसार तो श्रीकृष्ण-सेवा का प्रवर्त्तन ही श्रीकृष्णाराधन-प्रकार ही सर्वोत्तम है। और परतत्त्व परम-काष्ठापन्न वस्तु परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम परमेश्वर का मुख्य नाम भी श्रीकृष्ण ही है। दूसरा नाम मुख्य नहीं। यही सिद्धान्त विनिर्गलित होता है।

२ ईशा० प्रस्तावना.

नारायण वासुदेव श्रीकृष्ण की विभूतियां हैं। श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व पुरुषोत्तम विभूतिमान है। यह श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवत का निर्णय है। श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवत से अधिक वेदार्थका निर्णायक अन्य शास्त्र नही है। वेदादि शास्त्र-समूह श्रीमद्भागवतान्त है। श्रीमद्भागवत सर्वसन्देह-वारक है। श्रीमद्भागवतके अनुसार ही सर्व शास्त्रों के आशय का वर्णन करना साक्षाद्वेदाशय है—वेदमत है। पंचरात्र आदि आगमों का प्रामाण्य श्रीमद्भागवतानुकूल है। स्वतन्त्र नही। इस बात के न जानने न मानने से तत्तन्मतप्रवर्त्तकों को वेदादि शास्त्रों का आशय भी अन्यथैव गृहीत हुआ है। यथार्थ नहीं। और भी अनेक बातें हैं। जिनसे अन्य मत वैदिक तो हैं। पर वेदमत और विश्वधर्म नही हो सकते।

ये सब विशेषतायें श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय के तत्त्वदीप निबन्ध आदि मूल ग्रन्थों के गुरुमुख से अभ्यास करने पर और उन ग्रन्थों मे प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार वेद वेदाङ्ग स्मृति पुराणादिकों के अभ्यास करने पर ही परिस्फुट समझ मे आती हैं। अन्यथा नही।

शीर्षक-स्थित पंक्ति तत्त्वदीप निबन्ध मे साक्षात् वेद के सिद्धान्त को निष्कर्ष के रूप मे प्रदर्शित करते हुए श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण ने आज्ञा की है। फिर पढ़िये—"शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः"। अर्थात्—वेद वेदाङ्ग आदि वेदानुकूल शास्त्रों को पढ समझ कर मन वचन और तन से श्रीकृष्ण की सेवा करो। यही वेदार्थ है।

शास्त्र पढ समझ लेने पर प्रतीत होता है कि—अपनी अपनी मर्यादा मे स्थित रह कर, और यदि समस्त मर्यादाओं से पतित है—मर्यादा से पुनरुद्धार होना असम्भव हो—तो केवल स्वतन्त्र पुष्टिमार्गीय मर्यादा मे स्थित रह कर, भगवत्स्वरूप भगवत्सेवाप्रकार को समझे हुए भगवत्सेवा मे तत्पर होना साक्षात् वेद का सम्मत मत है।

समस्त मर्यादाओं को स्थापन करते हुए, और सुरक्षित रखते हुए भगवत्सेवा का आदेश, बडा मर्मस्पर्शी तलस्पर्शी है। और परम गंभीर है फिर भी पतितोद्धारक भी है। निर्दय नही है। प्रसाद-पूर्ण है। उसं

एक सूत्र मे सारे शास्त्र-राशि को और समस्त विश्व को पिरो लिया है। व्यापक रूप धारण कर लिया है। साक्षात् और परम्परा से ज्ञान कर्म उपासना सदाचार लौकिक अलौकिक सभी क्रिया कलाप का यथायोग्य समावेश उसमे होता है। भोग मोक्ष और शिष्टाचार–धर्म, तीनों का, उसमे, विज्ञान-मय, विनियोग है। देश काल परिस्थिति अवस्था का विचार किये विना सभी देश काल परिस्थिति अवस्था मे एक-सा हितकर उपयोगी आवश्यक है। और अकुण्ठित कल्याण करने के कार्य मे कृतपरिकर है।

विस्तीर्ण हृदय से उदार हृदय से और सावकाश हृदय से पढ़िये और परखिये कि यह क्या अद्भुत अलभ्य लोक-हित-कर लोकप्रिय वास्तव खरा सच्चा अद्वितीय अतुलनीय अनुपम परमापेक्षित उपदेश है। अमूल्य है! "शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः"।

वेद आदि सच्छास्त्रों का सम्पूर्ण परिज्ञान, और भगवत्सेवा, दोनो अविभक्त अपृथक्सिद्ध विशिष्ट एक कर्त्तव्य हैं। जुदे जुदे नही। इस विशिष्टकर्तव्य-परायणता के लिये ही उपदेश है। जिन्हे वेद आदि शास्त्रों के पढने समझने की शक्ति नही या अधिकार नही वे शास्त्रज्ञ भगवद्भक्त आचार्यादि की प्रेमानुवृत्ति से शास्त्राशय को समझ-बूझ कर भगवत्सेवा करें और उनकी भगवत्सेवा मे सहायक हों।

पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय का स्वरूप समझमें आया? यह है श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय का स्वरूप महिमा वैभव वैदिकत्व वेदगतत्व साक्षाद्वेदाशयत्व प्रामाण्य आवश्यकत्व आदि आदि। क्या क्या कहें और कितना कहें।

श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय की प्राणतुल्य सर्वस्वभूत इस दिव्याज्ञा के अनुसन्धान-समय में निश्चय होता है कि उक्त दोनो विशिष्ट एक कार्य के प्रयोजन को लक्ष्य में रख कर ही श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय में श्रीश्रीनाथजी महाराज आदि आचार्यपीठों की और भगवन्मन्दिरों की संयुक्त विशिष्ट स्थापना हुई है।

भगवत्सेवाशून्य शास्त्राध्ययन आसुरावेश उत्पन्न करता है। निन्दित है। शास्त्राध्ययनशून्य भगवत्सेवा निर्बल है–गौण है। दोनो ही श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय को सम्मत नही। इस लिये ही शास्त्राध्ययनपूर्वक भगवत्सेवा का आदेश है।

आरम्भ से बहुत समय तक तो इस विशिष्ट ध्येय को लक्ष्य मे रख कर इन पीठों और भगवन्मंदिरों के द्वारा बहुत ही बडा कार्य किया जा चुका है। जिसका शृङ्खलाबद्ध इतिहास तो यद्यपि उपलब्ध नही है। पर शुभ परिणाम प्रत्यक्ष है। परन्तु अब इस ध्येय की ओर पूर्ण लक्ष्य देने-रखने का अवसर है। इसकी सविस्तर निवेदन की आवश्यकता नही।

श्रीश्रीनाथजीमहाराज आदि आचार्यपीठों में पीठप्रतिष्ठानुरूप प्रतिष्ठित एक एक साम्प्रदायिक विद्यालय की स्थापना हो जाय तो श्रीमदाचार्यचरणों की शुभाज्ञा का पूर्ण पालन किया जा सकता है।

आचार्य-पीठों की शोभा प्रशंसा सुरक्षा उन्नति निर्वाह प्रतिष्ठा वैसे विद्यालयों से ही है। इन पीठों में वैसे साम्प्रदायिक विद्यालयों की बडी अनिवार्य परमापेक्षित परमावश्यकता है। इस विषय को कौन अप्रमत्त हृदय-से नही मानता?

इन दिव्य पीठों में वैसे साम्प्रदायिक विद्यालयों के वर्तमान अभावने ही सृष्टिमात्र को उक्त शुभाज्ञा के परिपालन से वञ्चित विमुख बना रक्खा है। दूषित वातावरण उत्पन्न होने दे कर श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय को खतरे मे डाल दिया है। न सुन सकने की—न सह सकनेकी बातें सुनवाया सहवाया है।

पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय नही पंथ है। वैदिक नही वेदानुकूल नही अवैदिक-है। वेद में श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण की लीला कुछ नही है। वेद श्रीकृष्ण को परब्रह्म नही कहता। श्रीवल्लभाचार्य वास्तव में आचार्य नही। अन्य आचार्यों ने उपनिषद गीता पर भाष्य किए। उनने नही किए। शक्ति होती तो करते। उनका मत वैदिक होता तो करते। इस लिये ही उनकी विद्वत्ता में भी संदेह ही है। ब्रह्मसंबंध पाषण्ड है। इत्यादि विविध दुराक्षेपो नें पुष्टिमार्गीय सृष्टि के हृदयों को छिन्न भिन्न विदीर्ण कर दिया है। पूर्वोक्त यथार्थ परिस्थिति के अपरिचय से और उत्तर देने की क्षमता न होने से आतंक और अन्धकार से छा दिया है।

इस समय श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय धूलिधूसर सूर्यकी भांति विच्छाय कान्ति-रहित बन गया है। वैसा भी सूर्य रात्रि तो नही होने देता। दिन ही बनाये

रखता है। धूलिधूसर भी हमें ही प्रतीत होता है। सूर्यमंडल में धूल नही पहुंचती। बहुत ही नीचे रह जाती है। श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय ने भी अभी दिन ही बना रक्खा है। कलिकाल की कराल काल रात्रि को फटकने नही दिया है।

श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति और तदुपयोगी पवित्रता शास्त्रोक्त शुद्धि प्रायश्चित्तानुष्ठान शास्त्राभिप्रेत सदाचार गोरक्षा ब्राह्मणादर शास्त्रादर का प्रचार अब भी थोडा बहुत सर्वत्र ही है। वर्णाश्रमकी व्यवस्था और वेद का प्रामाण्य अभी लुप्त होने नही दिया है। सिद्धान्त के रूप में तो सूर्य-सदृश निरस्ततिमिर प्रकाशैकरस देदीप्यमान ही है। आक्षेपों की कक्षाओं से वस्तुतः सर्वथा परे ही है।

पर वैसे सूर्य से पूर्ण जागृति का संचार नही होता। जडता पीछा नही छोडती। प्रकाश मन्द हो जाता है। कही कहीं कुछ कुछ अन्धकार भी छा जाता है। यथार्थ प्रसन्नता प्रफुल्लितता प्राप्त नही होती।

ठीक वही परिस्थिति इस समय श्रीश्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय की हो रही है। जनता मे जडता छा गई है। सज्जनों का मन अप्रसन्न अप्रफुल्लित है। जनता की जडता और श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय की शिथिल-प्रकाशता को देख देख कर सज्जनों का मन उदास हो रहा है।

शास्त्रज्ञ संशयच्छेत्ता विद्वान उत्पन्न होना बंद हो गया। वैसे विद्वान विद्यागुरु से संप्रदाय-ज्ञान प्राप्त करने की परिपाटीका परिचय भी नही रहा। सम्प्रदाय विद्वद्गम्य है। विना शास्त्रज्ञ संशयच्छेत्ता विद्यागुरु के परिज्ञान असम्भवही है। इस बात को लोग भूल ही गये। अब तो केवल भाषाग्रंथों के द्वारा थोडा बहुत चंचुप्रवेश पा कर अपने अल्पज्ञता-पूर्ण स्वच्छंद ऊहापोह से श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय की स्वरूप-हानि हो रही है।

आरंभ में प्रदर्शित उसके विशाल स्वरूप का परिचय नष्ट हुआ है। वेद में श्रुति है कि–"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"। इसका आशय है कि–कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय वेदोक्त साधनों से भगवत्प्राप्ति नही होती। भगवत्कृपा से भगवत्प्राप्ति होती है। इत्यादि।

जैसे "पढने से ही विद्या-प्राप्ति नही होती गुरुकृपासे होती है" इस कथन का यह तात्पर्य नही कि पढना छोड दो। पर यह तात्पर्य है कि गुरुकृपा प्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक अध्ययन करते रहो गुरुचरणों मे भक्ति रक्खो। निष्कपट भाव से गुरु-शुश्रूषा करो। गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन न करो। गुरु-गृह की मर्य्यादा मे रहो। उसी प्रकार इस श्रुति के कथन का भी यह तात्पर्य्य नही कि कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय भक्तिमार्गीय साधनों को छोड दो– वेद को श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय में प्रमाण भी मानना छोड दो इत्यादि। पर यह तात्पर्य्य है कि भगवत्कृपाप्राप्ति के लिये तत्परतापूर्वक सब सत्कर्म भगवत्परितोपार्थ करते रहो भगवच्चरणारविन्द मे भक्ति रक्खो निष्कपट भाव से भगवत्सेवा-शुश्रूषा करो। भगवदाज्ञा का उल्लङ्घन न करो। पुष्टिमार्गीय मर्य्यादा मे रहो। यह सब भगवत्कृपा से ही बनि आता है। अन्यथा नही। इस बात को समझो। भगवत्कृपा नही तो ये साधन पूरे पूरे बन ही नही सकते। और कुछ बन भी गये तो साधनाभिमान उत्पन्न कर भगवत्प्राप्ति के फल से वंचित ही रख छोडते हैं। इत्यादि।

तथापि श्रीगोपीजनों के दृष्टान्त से वैदिक मर्य्यादा के उल्लङ्घन मात्र को ही अल्पज्ञ मंडली ने पुष्टिमार्गीय धर्म समझ लिया है। सम्प्रदाय-मर्य्यादा के अनुसार वर्त्तन को तो छोड ही दिया है। यह नही जानती कि श्रीगोपीजनों का दृष्टान्त भगवत्साक्षात्कार हो जाने के पीछे का है। पर श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरण-प्रवर्तित श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय भगवदन्तर्ध्यान-समय में भगवत्साक्षात्कार कराने के अभिप्राय से प्रवृत्त है। इसमें उसमें बहुत से भेद हैं। श्रीगोपीजनों के दृष्टान्त से भगवत्सेवा करना तो इस में उपपन्न है– पर वेदोक्त मर्यादा का उल्लङ्घन नही। इत्यादि।

ये सब निर्बलतायें साम्प्रदायिक विद्यालयों के अभाव से उत्पन्न हुई हैं। श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय की नही। वेद वेदान्त आदि शास्त्र-राशि मे उसका स्वरूप देदीप्यमान दमक रहा है। परम ऊर्जस्वल विराजमान है। किसकी शक्ति है जो उसके सामने आंख उठा कर भी देख सकै।

श्रीमन्मथुराधीश-मुख्य-सेवक वयोवृद्ध विद्वत्प्रवर पण्डित श्रीगोकुलदासजी महोदय बतलाते हैं कि शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता के तृतीय अध्याय मे अग्नि

देव की स्तुति का उनतीसवां मन्त्र है कि—"यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥" इस का आशय है कि—जो धनवान, पापों के नाश करने वाले, भगवत्सेवोपयोगी दैवी धन को देने वाले, पुष्टि-मार्ग के प्रचारक हैं, वे अग्निदेव शीघ्र ही सेवक पर कृपा करने वाले हैं। वे हमारी रक्षा करें।

इस मन्त्र में अग्निदेव को पुष्टिमार्ग प्रवर्त्तक बतलाया है। पुष्टिमार्ग-प्रवर्त्तक अग्निदेव श्रीमद्वल्लभाचार्य्य चरण हैं। क्यों कि श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरण पुष्टिमार्ग-प्रवर्त्तक और अग्नि के अवतार प्रसिद्ध हैं।

शास्त्रोल्लिखित गंगाजी की प्राप्ति जगत की प्रसिद्धि के सहारे ही होती है। और गंगा-दर्शन के समय प्रत्यभिज्ञा होती है कि—शास्त्रोल्लिखित श्रीगंगाजी ये हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध गंगा-तट-निवासी जब शास्त्रों में श्रीगंगाजी की महिमा देखते हैं तो उन्हें प्रत्यभिज्ञा होती है कि इन श्रीगंगाजी की महिमा शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है।

इसी प्रकार वेद वर्णित पुष्टिवर्धन अग्निदेव श्रीमद्वल्लभाचार्य्य चरण हैं। और श्रीपुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय और उसके प्रचारक श्रीमद्वल्लभाचार्य्य चरण का वर्णन वेद में है। यह निश्चय होता है। सन्देह की कोई बात नहीं।

अग्नि से भोजन पच कर शरीर की पुष्टि होती है। पुष्टि-पद का यह अर्थ तो निरा गंवारू है। क्यों कि—अग्नि से भोजन पच कर शरीर-पुष्टि होना तो प्रत्यक्ष-गृहीत है। प्रमाणान्तर से सिद्ध पदार्थ का कथन शास्त्र नहीं करता। शास्त्र तो प्रमाणान्तर से अगम्य पदार्थ का ही निरूपण करता है। इस लिये "पोषणं तदनुग्रहः"—अर्थात्—भगवदनुग्रह का नाम पुष्टि है, इस श्रीमद्भागवत के वचनानुरोध से पुष्टि-पद का भगवदनुग्रह-मार्ग पुष्टि-मार्ग ही अर्थ वैदिक है। यह बात विस्पष्ट है।

ईशावास्य उपनिषद् की समाप्ति में भी "हिरण्मयेन पात्रेण" इस मन्त्र से आरंभ कर "अग्ने नय सुपथा" इस मन्त्र तक चार मन्त्रों में श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरण और उनके बताये हुए सुपथ श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय का पूर्ण वर्णन

विद्यमान है। यह बात ईशावास्य उपनिषद की व्याख्या "बालभाष्य" के निरीक्षण से समझ मे आ जायगी।

प्रारंभिक प्रवृत्ति के लिये ये कुछ प्रमाण प्रदर्शित किये हैं। वैसे तो श्रीपुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय-प्रदर्शित प्रक्रिया से वेद वेदान्त आदि का अभ्यास करने पर उनमे श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय का देदीप्यमान दर्शन होगा। और उसकी सर्वोत्तमता का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होगा।

साम्प्रदायिक विद्यालयों के अभावने हम आधुनिक पुष्टिमार्गानुगत जनता को बहुत नीचा दिखाया है। और महाभयानक महाभय के पंजे मे फंसा दिया है।

पुष्टिमार्गीय पीठों मे वैसे सांप्रदायिक विद्यालयों की स्थापना होने पर ही अब आगे कुशल क्षेम आनंद मंगल है। अन्यथा हिन्दू हिन्दी हिन्दोस्तान कुछ नही रहेगा। हिन्दू-संस्कृति वैदिक-संस्कृति कुछ नही रहेगी। श्रीपुष्टि-मार्ग संप्रदायकी तो बडी बात है।

राशन परमिट कंट्रोल जैसे दुर्नियंत्रण जब जीवन मे ही संशय उत्पन्न कर रहे हैं तब फिर अन्य धर्म अर्थ काम मोक्ष इन पुरुषार्थों की सिद्धि के उप-युक्त स्वस्थता शांति की तो चर्चा ही क्या रही ! अधर्म के परिणाम और फल ऐसे होते हैं। ये कराल कलिकाल के विकराल आक्रमणों की चुनौती है। सावधान रहने की आगाही है। धर्म-रक्षा करने पर ही गुजारा है। दूसरा सहारा नही है। विद्योत्तेजन विना धर्म-रक्षा नही होती। इस लिये श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय के पीठों मे सांप्रदायिक विद्यालयों की स्थापना परमा-वश्यक है। इसमें संदेह नही।

सांप्रदायिक विद्यालयों की स्थापना का ध्येय है—श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय की निर्मल समुन्नति। श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय विश्व-धर्म और वेद-मत है तो विश्व की समुन्नति का साधक है—वैदिक संस्कृति का संस्थापक है।

वैदिक-संस्कृति का उद्देश्य है कि—अवैदिक-संस्कृति से सर्वथा दूर रहते हुए विशुद्ध वैदिक-संस्कृति मे रह कर कलि-काल के कराल जालों से बचना और भगवत्सेवा के परमानन्द-सागर मे विहार करना।

कलि-काल के कराल जाल हैं—अविद्या आलस्य अनाचार भगवद्विद्वेष बहिर्मुखता दुराचार विविध धर्मों का उत्थान स्वधर्म-त्याग अधर्म-ग्रहण पुण्य-पराङ्मुखता पाप-प्रीति परतन्त्रता पराधीनता अन्न वस्त्र का भी क्लेश इत्यादि इत्यादि।

श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय इन अनर्थों का विनाशक है—विश्वकी सुख-समुन्नति का साधक और वैदिक-संस्कृति का संस्थापक है सो साम्प्रदायिक विद्यालय ध्येय-निश्चय-पूर्वक ही स्थापित होने चाहियें। उनका द्वार-लेख "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि" ये श्रीमदाचार्य्य-चरण-प्रोक्त ढाई श्लोक होने चाहियें। अवैदिक-संस्कृति के निवारण और वैदिक-संस्कृति के संस्थापन मे सहायक हो तो राजभाषा के वैसे अध्ययन मे दोष नही। पर वैदिक-संस्कृति से हटा कर अवैदिक-संस्कृति मे ला गिराने वाली शिक्षा को उस मे स्थान नही देना चाहिये।

वैदिक-संस्कृति मे ही स्वराज्य स्वतन्त्रता सब है। अवैदिक-संस्कृति सर्व-नाश का आमंत्रण है। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था मे ही स्वराज्य स्वतंत्रता सब समाये हुए हैं। उस से अतिरिक्त नही। वैदिक-संस्कृति के सिवा भारत-वासिनी प्रजा का जीवन नही योगक्षेम नही स्वरूप-सत्ता नही। अवैदिक-संस्कृति के स्पर्शसे भारत-वासिनी प्रजा के भाग्य वैभव का निश्चय ही चौपट है। भगवदाज्ञा है—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"।

ये आशायें भगवत्कृपा से ही पूरी होती हैं। जीव-प्रयत्न से नही। इस के लिये श्रीमदाचार्य्य-चरण के चरण कमलों मे भूरि भूरि भक्ति-भाव से साष्टांग प्रणाम और कृपा-कटाक्ष की प्रार्थना।

उक्त कटुतम दुराक्षेपों के अतिदारुण तीव्रतम विषसे पुष्टिमार्गीय जनता के क्लेशों को देख कर उन्हे दूर करने के लिये करुणाप्लावित हृदय हो कर बंबई मे विराजमान गोस्वामिगणाग्रगण्य आचार्य्य-शिरोमणि बृहन्मन्दिरस्थित श्रीमदाचार्य्यसिंहासनासीन श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय-प्रवर्तक श्री १०८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज महोदय ने कृपा कर इस तुच्छ नगण्य सेवक को उप-

निषदों के भाष्य लिखने की शुभाज्ञा दे कर अनुगृहीत किया। और अपनी सर्वथा असमर्थता निवेदन करने पर शुभाशीर्वाद दे कर भी प्रोत्साहित किया।

उनकी परिपूर्ण असीम कृपा और संचारित दिव्य शक्ति से ही यह ईशावास्य उपनिषद की सांप्रदायिक व्याख्या उपनिषदुपोद्धात और साक्षाद्वेदाशय ये तीन संस्कृत निबंध श्रीपुष्टिमार्ग सम्प्रदाय की सेवार्थ प्रस्तुत हैं। और चौथी यह हिन्दी-प्रस्तावना।

ईशावास्य की इस व्याख्या के अध्ययन से पता लगेगा कि—वेद में श्रीपुष्टिमार्ग संप्रदाय का वर्णन है। अन्य चर्चा नही। और श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय मे साक्षाद्वेदाशय की चर्चा के सिवा दूसरी चर्चा कुछ भी नही है। दोनो एक मे एक परस्पर ओतप्रोत हैं। अभिन्न हैं। भेद का गंध भी नही। दोनो का तादात्म्य है।

किं बहुना। श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय के आचार्य श्रीमदाचार्य्य-चरण के चरित्र भी वेदने वर्णन किये हैं। और उनका कुल भी वेदविदित है। इसका भी इशारा वेद मे मिलता है। यह बात समझ मे आ जायगी।

उपनिषदुपोद्धात से वेदार्थ-निश्चय होगा। श्रीकृष्ण भगवान ही वेदार्थ हैं। यह निर्णय होगा।

साक्षाद्वेदाशय मे श्रीपुष्टिमार्ग-संप्रदाय की वैदिक और दार्शनिक विशिष्टता का वर्णन है।

, इन सब का मुख्य मुख्य निष्कर्ष इस हिन्दी-प्रस्तावना मे है। शेष कर्त्तव्य मे तत्परता प्राप्त करने के लिये श्रीमदाचार्य्य चरण के चरणकमलों में भक्ति-भर-निर्भर भूरि भूरि प्रणाम और कृपा-कटाक्ष की प्रार्थना।

श्रीहरिर्जयति ।

साक्षाद्वेदाशयः ।

यानि खल्विमानि नानामतान्यास्तिकनास्तिकभेदविभिन्नानि सर्वतः संस्त्यायन्ते जगति तैः सम्भूय किमपि प्रगाढं ध्वान्तमेव सूचीभेद्यं समुद्भाव्य सञ्चार्य्यन्ते । साक्षाद्वेदाशयोऽपलप्यते । "कः पन्था उत्पथश्च कः" इति दृष्टिश्च तत्तत्पृथक्कृतपरिनिष्ठानां गरिष्ठनिष्ठानां आप्तप्रतिष्ठानामपि विदुषामप्रमुष्यते । किमुत गतानुगतिकानामविदुषां साधारणानां प्राकृतानां जनानाम् । तटस्थानां प्रेक्षावताञ्च श्रेयोभिकाङ्क्षिणाम् । संशयात्मता च सरीसृज्यते । तैस्तैः स्वस्वमताभिनिविष्टैर्बोध्यमानानामपि नानामतजालमत्तमतङ्गजसङ्घसङ्घर्षिता धीस्तिमिरं न जहातीति ।

तदिमानि नानामतानि श्रेयोर्थिना त्याज्यानि । श्रेयस्साधनयोरनवस्थापादकानि विवादपराणि प्रत्येकमतेन प्रत्येकमतस्यापार्थपूर्णतया प्रदर्श्यमानानि नूनमप्रामाणिकान्येव सर्वाण्यपीति ।

साक्षाद्वेदाशयस्तु समन्वेष्टव्यः परीक्षणीयः परिचेतव्यः प्रदर्शिताशेषदोषसमुत्सृष्टः साक्षात्सर्वानर्थोपशमः साक्षात्सर्वार्थसमर्थकः सकलकल्याणपरम्पराप्रवर्त्तकः प्रामाणिकमूर्धन्यः सर्वथा तथ्यार्थपरिपूर्णोऽक्षरमात्रेऽप्यनाप्यवाद्यः सृष्टेः सर्वविधपुरुषार्थसार्थसंसाधनाय सृष्ट्यारम्भे सृष्ट्यधीशेन सृष्टिकर्त्रा वेदवेद्येन परेण पुंसा प्रजापतये ब्रह्मणे साक्षात्प्रदर्शितः सृष्टौ संस्थापितः परस्तादपि तदा तदाऽवतारादिना परिरक्ष्यमाण इति ।

विदितवेदितव्या वस्तुविमर्शिनः सारदर्शिनस्तत्त्वैकधियः सत्पक्षपातिनो विचक्षणाः सर्वेऽप्यत्र कृतक्षणाः ।

आचार्य्याश्च ते ते मतैक्यमेवेच्छन्ति । न नानामतान्यनुमन्यन्ते । नाऽन्यथा परमतनिराकरणोपपत्तिः । भवतु तेषां भिन्नं भिन्नं मतम् । मतैक्यं तूपगच्छन्ति सर्वेऽप्यावश्यकमित्यत्र न सन्देहः ।

लौकिका अपि नानामतैरुद्भावितेन निबिडेन ध्वान्तेन व्याकुला नानामतजालमेव भारतस्याऽस्य वर्षस्य सर्वपुरुषार्थेभ्यः परिभ्रंशकं विविधानर्थमूलं प्रतिकूलमातिष्ठमाना मिथ्याभिमानोदयमात्रविधायि वस्तुतो निस्सारमप्रयोजनं व्यर्थमनर्थमात्रपर्य्यवसायि तदिति विस्पष्टमेवोद्घोषयन्तः परिजिहीर्षन्ति ।

तदेवमास्तिकनास्तिकोभयसम्मतायां नानामतजालस्य सर्वथा व्यर्थतायामैकमत्यस्य च सर्वथैवाऽऽवश्यकतायां सकललोककल्याणार्थिना परमेश्वरेण सृष्ट्यादित एव सृष्टौ प्रवर्त्तितः कोटिशो वर्षाणि दृष्टापदानश्च साक्षाद्वेदाशय एव विवादं परित्यज्य पक्षपातं परिहाय सर्वेण श्रेयोर्थिना प्रेक्षावता निर्विशङ्कमनुरोद्धव्योऽनुसर्त्तव्यश्चेति सध्रीचीनो ह्ययं पन्थाः । सर्वथैव तु वेदप्रामाण्यवादिभिर्विद्वत्प्रवरैरित्यनुसन्धेयोऽयमर्थः सूरिभिः ।

युक्तश्चैतत् । यथा खलु कान्ताकनकादिषु न कोऽपि कस्याऽपि मतभेदस्तथा धर्मादावपि स निष्प्रयोजनः प्रत्युत ध्वान्तावहश्चेति । संशयापादनेन प्रणाशकत्वादप्ययुक्तश्चेति ।

केचित्तु सर्वाणीमानि मतान्यनादितो नानर्षिगणप्रवर्त्तितानि वेदोपष्टब्धानि वेदमूलानि प्रामाणिकानि नानाधिकारिगणसावकाशानि तत्तत्पुरुषार्थसाधकानि नाऽल्पकैः क्षोदक्षमाणि विपुलोपपत्तिपूरपरिपूरितप्रामाण्यकानि परिमितमतीनां मिथो विप्रतिपन्नवद्भासमानान्यपि समन्वितान्येवाऽनुसरणीयान्येवैकवाक्यतापन्नानीत्येव मन्तव्यानीत्याहुः । तदेकवाक्यताञ्च प्रदर्शयितुं प्रयस्यन्ति तथा तथा "कणभक्षमक्षचरणं जैमिनिकपिलौ पतञ्जलिञ्च नुमः । श्रीमद्व्यासवचोम्बुधिनवसीकरवर्षिणो मुदितानि"ति "व्यासचित्तस्थिताकाशादवच्छिन्नानि कानिचित् । गृहीत्वा व्यवहरन्त्यन्ये तन्मतं न विरुद्ध्यत" इति । "मानेऽक्षपद्धिकणादवाक् कपिलवाक् स्वंशब्दवाच्ये तदो वाच्ये शाण्डिलजादिवाक् फणिवचस्तात्पर्य्यवद्धीग्रहे । मीमांसा मतिशोधिकर्मनिचये वेदान्तशास्त्रोक्तयस्तत्त्वंलक्ष्यविनिर्णयेऽनभिमते का वा विरोधे क्षतिरि"ति च ।

अपरे यथाकथञ्चित्प्रयासातिशयेन संसाध्यमानामपि तामेकवाक्यतामेकान्ततोऽसिद्ध्यन्तीं प्रेक्षयाऽपरितुष्यन्तः "श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था" इति न्यायेन "येन नः पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यती"ति न्यायेन च पुरुषार्थप्रेप्सोः प्रवृत्तिमनभिनिघ्नन्तः सर्वसमयप्रवृत्त्यै नानाधिकारोपपन्नायै नाऽभ्यसूयन्ति । उक्तं हि भगवता—"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्नि"ति ।

परे तु परमवैदिकतयैव सर्वानर्थनिवृत्तिः सर्वपुरुषार्थलाभश्च नाऽन्यथेति साक्षाद्वेदाशयमनुरुन्धानाः प्रतिपद्यन्ते—

सर्वमिदं मतजालमर्वाचीनं वेदोत्तरकालजातं तेषां तेषां जीवविशेषाणां यथाबुद्धि यथाशक्ति यथाप्रकृति यथाधिकारं यथाभगवदिच्छं

मानां प्रतिभातं साक्षाद्वेदपुरुषाभिप्रेताद्वैदिकमहासिद्धान्तात्पृथग्भूतमेव कलिकाल एवोत्पन्नं कलिकालविजृम्भितरूपमेव नाऽनादि न यथार्थं किन्तु यथार्थायथार्थोभयांशसंवलितं यथार्थांशप्रतिभातप्रामाण्यकत्वेनैवोपपुष्यमाणायथार्थांशं तत एव परस्परं विरुद्धाविरुद्धम् ।

यदि सर्वं यथार्थमेव । न मिथो विरुध्येत । न खण्ड्येत च । यदि सर्वथैवाऽयथार्थम् । न यथार्थवद्भासेत । न प्रचारं लभेत । न परिगृह्येत च पण्डितम्मन्यैः ।

तत एवाऽविरुद्धांशे प्रामाण्यं विरुद्धांशे त्वप्रामाण्यमिति गुणैकग्राहिपाण्डुरस्वभावानामुदारचरितानां निर्मत्सराणां सतां व्यवस्थया कथञ्चित्सर्वथा नाऽनादृतमपि वस्तुतो यथार्थवेदार्थापलापेन सर्वपुरुषार्थपरिध्वंसायैव "बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः । नानामतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनमि"त्यादि वचनानुसारेण भुवि लब्धप्रचारं वेदाध्ययनावबोधावधारणाचरणेभ्यः प्राक्सर्वथैवाऽनध्येयमस्पृश्यच्छायम् ।

ततः परस्तादध्ययनेऽपि सद्गुरुणाऽवधापनीयानर्थांशं दर्शितविरुद्धार्थस्थलं दूषितदोषं विवेचितविशेषं वेदाविरोधाधीनप्रामाण्यकमन्यथोपेक्ष्यमेव । यद्यपि तर्ककोविदैः प्रत्यक्षतर्काविरोधेनैव स्वीचिकीर्षितवेदप्रामाण्यकम् ।

वस्तुतस्तु—"ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे"ति श्रुत्या वेदोपकरणेभ्यः पृथग्भूतं बाह्यं वेदाविहितं वेदाशयलाभाय शिष्टैरपरिगृहीतमनावश्यकं प्रत्युत विरुद्धं प्रतिषिद्धं साक्षाद्वेदाशयाच्छादकं विमोहकमप्रमाणमेवेति ।

ननु प्रसिद्धेभ्यस्तेभ्यः कोऽयमन्यः साक्षाद्वेदाशयः । यो न प्रसिद्ध्यति सोऽप्रसिद्धः कथङ्कारं स्वीकार्य्यो भवेदिति चेत् ? एतदिहाऽवधेयम् ।

वेदाशयो द्विविधः । विशिष्टजीवविचारितः साक्षाद्वेदपुरुषाभिप्रेतश्चेति । यस्य निःश्वसितं वेदास्तेन वेदवेद्येन परमपुरुषेण भगवतैव साक्षाद्विचारितो वेति ।

तत्र विशिष्टजीवविचारितस्य वेदाशयत्वेऽपि न साक्षाद्वेदाशयत्वम् । जीवविचारद्वारकत्वात् । न च वैशिष्ट्यं प्रयोजकम् । वेदाशयत्वे तत्स्यान्न साक्षाद्वेदाशयत्वे । वैशिष्ट्येऽपि जीवत्वानपायात् । वेदपुरुषस्य स्वतन्त्रत्वात् । "वेदो नारायणः साक्षात्" "वेदा यथा मूर्त्तिधरास्त्रिपृष्ठे" "स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः । तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् । यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैरि"त्यादिभ्यः प्रमाणेभ्यः ।

जीवविचारितसाक्षाद्वेदाशययोर्विभेदादेव वैदिकेष्वपि नानामतभेदा उपलभ्यन्ते । जीवानां नानाप्रकृतिकत्वात् । यथाप्रकृति विचारितत्वात् । तत एव साक्षाद्वेदाशयस्य पृथक्प्रतिपत्तिसिद्धेः । मतभेदान्यथानुपपत्तेः । साक्षाद्वेदपुरुषाभिप्रेतस्य नानात्वायोगात् ।

तत एव केचित्क्रियापरमन्ये ज्ञानपरमपरेऽनीश्वरमितरे सेश्वरं परे भगवत्परञ्चेत्यादि तथा तथा वेदमाहुः ।

या त्वप्रसिद्धिराशङ्किता सा पाषण्डानां प्राबल्यात्कालकृतात् । नैकान्ततोऽभावात् । तदुक्तम्–"निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः । यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युग" इति । साक्षाद्वेदाशयस्य तु सर्वथैवाऽभावे वेदप्रवृत्तिर्व्यर्था स्यादित्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रसिद्धेरभ्युपगन्तव्यत्वात् । अन्तरङ्गेषु प्रसिद्धेः । बहिरङ्गेष्वप्रसिद्धेरिष्टत्वात् ।

न हि दिवान्धैरदृश्यमानोऽपि भगवानादित्यो नाऽस्ति न प्रकाशते न प्रसिद्ध्यति न लोकबन्धुर्न सर्वादरणीयः ।

न हि प्रागप्रसिद्धान्यपि खनेरुद्धयानन्तरं न प्रसिद्ध्यन्ति न वास्तवानि न प्रामाणिकानि नाऽऽद्रियन्ते वा वैकटिकैः सुरत्नानि ।

यथा कस्मिंश्चन राजपुरुषे समुपेते जानपदैर्नानाऽभिप्राया हृदि निबध्यन्ते । स तु येनाऽभिप्रायेण प्रविष्टो न तं कोऽपि वेद । स तेषामप्रसिद्ध एव । न तावता राजपुरुषस्य कश्चिन्निजाभिप्रायो नाऽस्ति । न वाऽसौ नाऽन्तरङ्गेषु न प्रसिद्ध्यति । तस्मिन् स्वतन्त्रेऽपि ये ते तेऽभ्यूहा जानपदानां तेऽपि हेतुमन्न्यायेन प्रामाण्यं न किल न प्रतिपद्यन्ते प्रायः ।

एवमेव तावद्वेदपुरुषः स्वतन्त्रमेव स्वाभिप्रायं बिभर्ति । लोकैर्यथा तथा गृहीतस्तु तदप्यापाततोऽनुवर्त्तत एव । परं न वस्तुतः । अन्धहस्तिवत् । यथा खल्वन्धैर्हस्तपरामर्शेण शूर्पस्तम्भमुसलाद्याकारेण गृह्यमाणो हस्ती स्वतन्त्राकारोऽपि तेषां तेषां बुद्धिमप्यंशतोऽनुसरति । तथैव भगवदनुग्रहविहीनैः परिदृश्यमानो वेदोऽपि तत्तद्बुद्धिमंशतोऽनुसृत इव स्वतन्त्रेण स्वाभिप्रायेणैव विराजत इति ज्ञेयम् । न तावता तेषामभिप्रायाः साक्षाद्वेदाशयः शक्या निगदितुम् ।

ननु नाऽनृतानि तानि । पुरुषार्थसिद्धेरिति चेन्मैवम् । वेदाभिप्रेतपुरुषार्थसिद्ध्यभावात् । अर्थक्रियाकारित्वस्य पुरुषार्थत्वासिद्धेः । कूपवत् । यथा सकललोकोपकाराय विनिर्मितः स्थितोऽपि कूपः कस्यचन दुर्मरणेच्छोः पातेन मरणमपि साधयति । एवमेव बुद्धिदोषादन्यथा गृहीतो वेदोऽप्यर्थाभासमनर्थं साधयेत् । तत एव–"अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च । पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च"इत्यभियुक्तोक्तिः ।

ननु नाऽनर्था धर्मार्थकाममोक्षाः । त एव हि तत्तन्मतप्रतिपाद्या इति चेन्नैवम् । नाममात्रसाम्येनाऽयम्भ्रमः । तेषां रूपन्तु वेदोक्तेभ्यस्तेभ्यो विभिद्यते च विरुद्ध्यते चेत्यन्यत्र विस्तरः । अनर्थरूपत्वात्तादृशां धर्मादीनाम् ।

तदलमेकवाक्यतादिप्रयासेन । एकान्ततोऽनिष्पत्तेः । अज्ञानकलहाद्यनर्थानुपशमाच्च । अज्ञानकलहाद्यनर्थोपशमामीप्सयैव हि "समादधति सज्जना" इत्युक्त्यनुसारेण विद्वत्सज्जनानामेकवाक्यतार्थमुद्यमो नैकवाक्यताया वास्तवत्वाभिप्रायेण ।

तस्मात्साक्षाद्वेदपुरुषाभिप्रेतो महासिद्धान्त एव सर्वानर्थोपशमः प्रचारार्हः । स एव विदुषाम्भूषणम् । दूषणं तु नानामतजालं विदुषामल्पज्ञत्वमैकदेशित्वमहत्त्वविस्मयमनृतम्भरत्वादिकञ्च परिस्फोरयदुपहासमेव जनयति । नानामतोद्भावनेनाऽऽन्ध्यकलहादिप्रवृत्त्या प्रवृद्धापराधभाजनत्वञ्च तदेकवाक्यतादिप्रयासेनाऽनर्थकत्वञ्चाऽनर्थोपष्टम्भकत्वञ्च संभाव्य मानास्पदात्पदात्प्रच्यावञ्चाऽपि जनयतीति ।

नन्वेवं प्रसिद्धेभ्यः साक्षाद्वेदाशयस्य पृथक्सिद्धावपि तस्याऽन्तरङ्गेषु प्रसिद्धावपि कथं तदर्थिना स परिचेयः कथं तथात्वमवधार्यमिति चेत्? स्वयं साक्षाद्वेदेनैवेति गृह्यताम् ।

वेदाशयो हि वेदोक्तप्रक्रिययैव साक्षाल्लभ्यते । सा च साङ्गवेदाध्ययनेन । "ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे"ति श्रुतेः । निष्कारण इति काम्यत्वनैमित्तिकत्वयोर्व्युदासेन साङ्गवेदाध्ययनस्य नित्यत्वं व्युत्पादितम् । षडङ्ग इत्यनुकूलत्वस्य प्रयोजकत्वोक्त्योपबृंहण पुराणेतिहासादिसङ्ग्रहः । अध्येय इत्यधीतविस्मरणं प्रतिषिद्धम् । सर्वस्य साङ्गस्य वेदस्य प्रतिभानमावश्यकमुक्तम् । ज्ञेय इत्यनर्थज्ञवैदिकवत्पाठ मात्रं व्यावर्तितम् । सर्वात्मना सर्वथा वेदाशयाधिगम आवश्यक उक्तः । चकारेणाऽऽचारानुष्ठानादिना तद्धारणानुवृत्ती विहिते । सम्पूर्णेन विधिवाक्येन शास्त्रान्तरपाठ्यं प्रतिषिद्धम् । वेदार्थविज्ञानादेर्निःश्रेयसाधिगमहेतुत्वं दर्शितम् । "नैषा तर्केण मतिरापनेये"त्यानयनापनयनयोः प्रतिषेधात्तर्कस्य वेदाशयग्रहणेऽप्रयोजकत्वं दर्शितम् । तर्कस्य प्रत्यक्षोपजीवित्वेन तदतीतार्थे प्रमाणत्वाभावात् । तेन तर्काकुलीभाव एवाऽभिजायते न याथातथ्येन तद्ग्रहणम् । "यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते" इति तु तर्कागोचरत्वाच्छब्दैकप्रमाणकत्वाच्च स्थूणाखननवत्प्राप्ते दार्ढ्यार्थे दुर्बुद्धौ तु सन्देहवारणार्थमपीत्यनुकूलस्य तर्कस्याऽनुमतिमात्रमिति न तर्कविरोधार्थे न तर्कानुरोधार्थे न तर्कप्रामाण्यार्थे न तर्केणाऽनुसन्धानावश्यक-

त्वार्थं न तर्कानुकूल्यान्वयव्यतिरेकाधीनवेदप्रामाण्यार्थं किन्तु सर्वथा प्रतिकूलतर्कप्रतिषेधार्थम्। अनिष्टानुबन्धित्वात्। मन्दानुग्रहायाऽनुकूलतर्काभ्यनुज्ञार्थञ्च। इष्टानुबन्धित्वात्। "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टमि"ति न्यायेनाऽनुकूलतर्कस्य प्रतिषेधे प्रयोजनाभावात्। तदिदमाह—नेतरः। वेदविरुद्धतर्कारूढ इत्यर्थः। वेदशास्त्राविरोधिना। यथा "व्रीहीनवहन्ती"-त्यवहननं पव धर्मो न नखविदलनादिना निस्तुषीकरण इति व्रीह्यवहननस्य नियमत्वस्थापनेन यथाश्रुतार्थस्यैव स्थापनम्। यथा वा "तदेजति तन्नैजती"त्यादिभिः श्रावितस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य प्रत्यक्षाद्यगोचरे ब्रह्मणि मन्दानुग्रहाय तर्काविरोधप्रदर्शनम्।

किञ्च—"अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते। तपसा वेदयुक्त्या वा प्रसादात्परमात्मन" इत्येषा च "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत। शौचाचारांश्च शिक्षयेत्। मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि। ब्राह्मणं न हन्यात्ताऽधगुरेदि"त्येयमादिः सकलैव विधिनिषेधव्यवस्थात्मिका च प्रक्रिया साक्षाद्वेदाशयलाभाय तत्र तत्रोच्यते।

"श्रुतिस्मृती ममैवाऽऽज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णव"इति "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती"ति "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युग" इति "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाऽहम्। मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय। मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्याऽपोह्यते त्वहम्। इत्यस्या हृदयं लोके नाऽन्यो मद्वेद कश्चने"ति "कृष्णव्याख्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि। ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिन" इति "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि। समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्। उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्त्तितम्। अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नाऽन्यथा। एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चने"ति "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश"ति सा तत्र तत्र विशदीक्रियते च। न्यायपदमत्र नीतिशास्त्रपरं न काणादवैशेषिकपरमित्यन्यत्र विस्तरः।

"प्रमेयं हरिरेवैकः। नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्रपद्ये। अयमेव महामोहो हीदमेव

प्रतारणम् । यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः । सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् । अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या । एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवा । सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्याऽयमेव धर्मो हि नाऽन्यः क्वापि कदाचन । एवं सदा स कर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति । प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् । यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि । ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि । अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः । स्मरणं भजनञ्चाऽपि न त्याज्यमिति मे मतिः । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते"त्येवमादिरूपेण प्रमेयतश्चापि प्रदर्श्यते ।

"ये धातुशब्दा यत्राऽर्थे उपदेशे प्रकीर्त्तिताः । तथैवाऽर्थो वेदराशेः कर्त्तव्यो नाऽन्यथा क्वचिदि"ति सा नियम्यते च ।

"लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् । आर्थिकन्तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृत" इति सा विधियते च ।

"प्रत्यक्षं चाऽनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मसिद्धिमभीप्सते"त्यादिवचनानि त्वधार्मिकैर्विवादोपस्थापने धर्मसिद्धिप्रक्रियापराणि । चोदनैकलक्षणत्वाद्धर्मस्य । "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धोऽव्यतिरेकश्चाऽर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्याऽनपेक्षत्वादि"ति सूत्राच्च । न साक्षाद्वेदाशयलाभप्रक्रियाप्रतिपादकानीति ज्ञेयम् ।

प्रक्रिययाऽनया साक्षाद्वेदेन साङ्गेनाऽध्ययनावधानाभ्यामुपस्कृतेन बोध्यमानया साक्षाद्वेदाशयविद्भिश्चोपदर्शितया साक्षाद्वेदाशयपरिचयः सुलभोऽनयैव च कः साक्षाद्वेदाशयः कश्च नेति तथात्वावधारणञ्च विविच्य सुलभमिति नेह विशेषवेदिनां व्यामोहावसरः ।

तथा चोक्तपूर्वाये महतोऽनर्थस्य निवृत्तये महतश्चाऽर्थस्य प्रवृत्तये

नानामतजालमिदं विहाय साक्षाद्वेदाशयापलापारम्भपरिहाराय प्रेक्षावन्मात्रेण साक्षाद्वेदाशयः समन्वेष्टव्यः परीक्षणीयः परिचेतव्यः प्रेप्सितव्यश्चेति सिद्धम्।

अन्ये त्वेनां प्रक्रियां नैकान्ततोऽनुवर्त्तन्ते तेनैव तथा तथा विभिद्यन्ते चेति तु समन्वेषणपरीक्षणपरिचयैः स्वयमेव भोत्स्यते। अश्रद्दधानेषु निस्सत्त्वेषु दुर्मेधस्सु स्वयं समन्वेषणपरीक्षणपरिचयैर्विना प्रबोदयस्याऽसम्भवात्। अल्पक्षैर्वृथा पक्षपातित्वारोपभिया सत्पुरुषैः प्रक्रियोपदर्शनमात्रेणाऽऽत्मकरणीयस्य पर्य्यवसायितत्वात्। "क्षुधाग्रे न गुणान् ब्रूयात् साधु वेत्ति यतः स्वयम्। मूर्खाग्रेऽपि न तान् ब्रूयाद् बुधप्रोक्तं न वेत्ति स" इति सुभाषिताच्च।

ननु गुरुपरम्पराप्राप्तोऽयमर्थो न वा। न द्वितीयः। स्वयमन्वेषणाद्यशक्यत्वच्छेदापत्तेः। अल्पज्ञत्वादिना भ्रमावश्यम्भावात्। प्रमाणाधिगतत्वेऽपि जीवविचारस्पर्शापत्तेर्दुर्वारतया गुरुपरम्पराया आवश्यकत्वाच्चेति चेत्। एवमेतत्। तथा हि—"सर्गादौ स्वमतं समस्य विषये यं ब्रह्मवादं जगौ कौन्तेयोद्धवयोः प्रकाश्य च पुनर्वेदान्तसारं हरिः। तं व्यासाद्यगोचरं प्रथयितुं यैर्भाष्यमाभाषितं तानाचार्य्यवरान्नमामि सततं श्रीवल्लभाख्यान् प्रभून्। आदौ श्रीपुरुषोत्तमं पुरहरं श्रीनारदाख्यं मुनिं कृष्णव्यासगुरुं शुकं तदनु विष्णुस्वामिनं द्राविडम्। तच्छिष्यं किल बिल्वमङ्गलमहं वन्दे महायोगिनं श्रीमद्वल्लभनाम धाम च भजेऽस्मत्सम्प्रदायाधिपमि"ति।

दुस्सङ्गादिना दुर्बुद्ध्युदयेन श्रीमद्गुरुचरणेषु पक्षपातित्वसन्देहे तु यथोक्तया प्रक्रियया तदुक्तेऽर्थे साक्षाद्वेदाशयत्वं परीक्ष्याऽपि निर्द्धार्य्यतां तदतिरिक्तं त्यज्यतामनुस्रियताञ्च यथार्थः साक्षाद्वेदाशयो धीमद्भिः।

नन्वस्य का महासिद्धान्ततेति चेत्सकलानर्थप्रत्यनीकत्वादिरूपा सकललोककल्याणक्षमतादिरूपा च सा सा प्रदर्शितैवैतावता।

अपरे च भक्तिमार्गत्वञ्च पुष्टिमार्गत्वञ्च प्रोज्झितकैतवधर्मरूपत्वञ्च सर्वाधिकारकत्वञ्चाऽऽनुषङ्गिकज्ञानकर्मफलकत्वे सति तद्वाक्यार्थसम्पादनसमर्थत्वञ्च स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमत्वञ्च कर्मज्ञानादिभिरेकवाक्यतापन्नत्वञ्च सर्वथा स्वतन्त्रत्वञ्चाऽधमाधमोद्धारकत्वञ्च स्वकुक्षिकक्षीकृतसकलैकदेशिसमयत्वञ्चेत्येवमाद्योऽनन्ता एव विशेषा महासिद्धान्तताप्रयोजका इति कियदभिदध्मः।

पुष्टिमार्गीयाणां साक्षाद्वेदाशयरूपाणां ग्रन्थानामेव श्रीमदाचार्य्यचरणप्रोक्तानां श्रीमत्प्रभुचरणप्रोक्तानाञ्च सव्याख्यानामध्ययनावधानाभ्या-

मेतत्सर्वमेकान्ततोऽवगम्यते नाऽन्यथेति । तन्निष्कर्षविशेषलेशविशेषपर्यैव स्वल्पो निबन्धः । नेह विस्तरः सावसरः सरसश्च स्यादिति ।

ननु मतान्तरे का नाम जीवविचारद्वारकतेति चेत्? अगणिता एव। तत्रैकां ब्रूमः । स्वयं प्रत्यक्षादिविरोधभयेन तार्किकभीत्या वा स्वतःसिद्धप्रमाणभावेन सकलप्रमाणमूर्धन्येन भगवता वेदमात्रैणैकप्रमाणके ब्रह्मणि तदुक्तस्य विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वस्याऽनङ्गीकारोऽविकृतपरिणामादिप्रत्याख्यानमवतारधर्माणां बाल्यकैशोरादीनां तत्प्रयुक्ततत्तल्लीलाविशेषाणाञ्चाऽयथार्थत्वापादनं लीलाकैवल्योक्तिविरोधो मुख्यमाहात्म्योच्छेदो भक्त्यनुद्भवप्रसङ्गाद्भक्तिमार्गोपप्लवस्तत्प्रतिपादकशास्त्रराशिविनाशारंभः प्रत्यक्षाद्यपेक्षया वेदप्रामाण्यनैर्बल्यादरेण वेदापकर्षप्रस्ताव आस्तिकेष्वपि नास्तिक्यानुस्यूतभगवत्स्वरूपविशेषाद्यसूयोपसर्गः साक्षाद्वेदाशयापलापप्रारम्भेण महानर्थकरनानामतजालविस्तारायकादानं जगत्क्षयकरणे परिकरबन्धश्चेति ।

पुष्टिमार्गीयाणुभाष्यतत्त्वार्थदीपविद्वन्मण्डनादिग्रन्थाध्ययनविधानाभ्यामेव तु विशिष्य बुभुत्सोपशम इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

ननु वैदिकैराचार्य्यान्तरैः स्वविवक्षितस्य वेदाशयत्वायोपनिषदस्तास्ता व्याख्याताः । भगवद्गीता च ब्रह्मसूत्राणि च । तेन ते वेदाशयविद इति सर्वेषां प्रतिपत्तिः । श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणैस्तु नोपनिषदो व्याख्याता न भगवद्गीताऽपि । श्रीमद्भागवतमेव तु प्राधान्येन व्याख्यातम् । तदनुरोधेनैव यथाकथञ्चिद्ब्रह्मसूत्राणि च । तेन ते वेदाशयविदो नेति सर्वे प्रतिपद्यामहे । तन्मतमवैदिकम् । पौराणिकं कथञ्चित्स्यादिति । ते हि परं ब्रह्म श्रीकृष्णमाहुः । तत्पौराणिकम् । श्रीमद्भागवतादौ तथा प्रसिद्धेः । न वैदिकम् । वेदे श्रीकृष्णादिनिरूपणानुपलब्धेरिति चेदेतत्ते सोम्य व्युत्पादयिष्यामः ।

श्रीमदाचार्य्यचरणानां स्वविवक्षितं वेदातिरिक्तं नाऽस्ति । यस्य वेदाशयत्वाय तैर्वेदो व्याख्येयो भवेत् । वेदाशयः साक्षात्तेषां विवक्षितः । तदर्थं विशिष्टा प्रक्रियैव विशोध्या । यस्या अपरिज्ञानात्साक्षाद्वेदाशयं न लभन्ते यदाकाः । न वेदो व्याख्येयः । हैतुकाः पापबुद्धयो न श्रद्धधीरंस्तदिति ।

साक्षाद्वेदाशयानुसारित्वादेव हि श्रीमदाचार्य्यचरणा वेदानुपनिषदश्च न व्याचख्युर्न च भगवद्गीताम् । साक्षाद्वेदाशयत्वविश्वासाय स्वस्य दृष्टिलाभ एव प्रयोजको न व्याख्यानादीत्यत एव "ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे"ति श्रुतिर्विशिष्टं वेदाध्ययनं तदर्थं विधत्ते ।

न टीकाध्ययनम् । प्रक्रिययाऽनया विशिष्टयैव लब्ध एव च वेदे साक्षाद्वेदाशयत्वसिद्धिः प्रथमः पक्षः । स एव साक्षाद्वेदाशयानुसारिणाऽनुसरणीयः । प्रवर्त्तनीयश्च । तदर्थमेवाऽवतारः श्रीमदाचार्य्यचरणानामित्याचार्य्यकृत्यं तदनुसरणप्रवर्त्तनाभ्यामेव कृतं भवति । तदर्थं सम्प्रदायप्रबन्धेषु प्रथमं विशिष्टप्रक्रियोपदेशस्ततस्तदनुसारिसाक्षाद्वेदाशयोपवर्णनञ्च कालदोषादसम्भावनाविपरीतभावनासम्भवाभावाय कृतम् । न कृतं मुख्यपक्षप्रवर्त्तनाभीप्सया तयोर्व्याख्यानम् ।

सम्प्रति कालदोषाच्छपत्यादिह्रासेन विशिष्टया प्रक्रियया वेदाधिगमस्याऽसम्भवान्माभूत्साक्षाद्वेदाशयोच्छेदः सर्वथाऽपीति करुणया निजजनानुद्दिधीर्षवस्तादृशविशिष्टप्रक्रियासिद्धसाक्षाद्वेदाशयमपि केवलं प्रचारयामासुरिति द्वितीयः पक्षः । तथाप्यबाधितप्रामाण्याधिगमायोपनिषद्भगवद्गीतयोरव्याख्यानमेव वरमिति मत्वा तदुभयमव्याख्यातमेव ररक्षुः । सति सन्देहसम्भवे यथोक्तया प्रक्रियया तन्निवारणस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

मन्दस्य हि टीकया प्रयोजनम् । टीकया च तादृशस्य दृष्टिरुपरज्यत इति यथार्थसाक्षाद्वेदार्थावधारणाय व्याकरणादिव्युत्पत्तिरुपार्ज्या । तया वेदार्थावधारणे साक्षाद्वेदाशयत्वे सन्देहानवसरात् । टीकाभिः प्रत्युत सन्देहोत्पादनात् ।

तस्मात्प्रमाणग्रन्था अभिधया वृत्त्या व्याकरणादिव्युत्पत्तिबलेनैव ज्ञेया न टीकादिनेति न व्याख्येयाः । इदानीं साक्षाद्वेदाशयावधारणाय प्रामाणिकत्वाय च सर्वसम्मतौ द्वौ पन्थानौ । वेदोक्तप्रक्रियया साक्षाद्वेदाध्ययनावधानाभ्यामेकः । भगवद्गीतया वेदार्थावधारणञ्च द्वितीयः । तयोर्व्याख्यादरे व्याख्यान्तरैः सन्देहाभिवृद्धिवत्सन्देहानपायावसर एव स्यात् । तद्वरं तयोरकरणमेव । नाऽन्यथा प्रामाणिकत्वं प्रकाशेतेति ।

मन्दानुग्रहोऽपि न किल नाऽनुरोद्धव्य इति ब्रह्मसूत्राणि श्रीमद्भागवतञ्च प्राधान्येन व्याचख्युः । सन्देहवारके हि ते अवश्यमेव मन्दानुग्रहाय व्याख्यातव्ये इति ।

यद्यपि भगवद्गीताऽपि सन्देहवारिकैव तथाप्युपनिषन्निर्णायिका चेति परमप्रामाण्यसंरक्षणायैव न व्याख्याता ।

ब्रह्मसूत्रान्तानुष्ठानेन व्यासापरितोषस्य श्रीमद्भागवतेन च व्यासपरितोषस्य श्रीमद्भागवते वर्णनात्साक्षाद्वेदाशयलाभाय श्रीमद्भागवतमेव प्रधानतममिति तदेव प्राधान्येन व्याख्यातम् । तदनुरोधेनैव व्याससूत्राणि च ।

अधीतसाङ्गवेदस्योपबृंहणेष्वभिनिविष्टस्य तथा तथोक्तप्रक्रियायां दृढं श्रद्दधानस्य ब्रह्मसूत्रश्रीमद्भागवताभ्यां यथा व्याख्याताभ्यां सन्देहविलये साक्षाद्वेदेन भगवद्गीतया च सुखेन स्वतः साक्षाद्वेदाशयलाभो निस्संशय इत्याशयन्तो हि श्रीमदाचार्य्यचरणाः ।

तस्माच्छ्रीमदाचार्य्यचरणमतमेव साक्षाद्वेदाशयः । तदेव यथार्थं परमं वैदिकम् । अन्यत्तु गौणमित्यपाणिपिहितमेतत् ।

यत्तु श्रीमद्भागवतान्तत्वं वैदिकस्य मतस्याऽनयथार्थ्यं श्रीमद्भागवतानुरोधस्य तात्पर्य्यमप्राप्य प्राधान्येन श्रीमद्भागवतव्याख्यानमात्रं दृष्ट्वा पौराणिकत्वमाशङ्क्यते तत्तावत्तत्तदुक्तप्रक्रियानभिज्ञताविजृम्भितं बुद्धेर्नानामतजालोपरक्ततामूलञ्च ।

तस्माद्यतोऽपकर्षमुत्प्रेक्षते जनस्तत्र परमोत्कर्षविश्रान्तं गूढः कटाक्षश्च तेषु तेषु प्रक्रियान्तरमाथितेषु विद्वत्प्रवरेष्विति धीमद्भिरनुसन्धेयोऽयमर्थः ।

भ्रमादेव तथा तथाऽन्यथा भानमव्युत्पन्नस्य । न विदितवेदितव्यानां वस्तुविमर्शिनां सारदर्शिनां कदाचिदपि तथा भानं सम्भवतीति मार्मिकाः प्रेक्षावन्तोऽत्र प्रमाणम् ।

किञ्च । व्यासप्रवृत्त्यनुसारित्वाय च वेदगीतयोरव्याख्यानं व्याख्यानञ्च ब्रह्मसूत्रश्रीमद्भागवतयोः । भगवता व्यासेन हि सन्देहवारकयोर्ब्रह्मसूत्रश्रीमद्भागवतयोः शास्त्रयोः प्रणयनं कृतम् । न वेदभगवद्गीते व्याख्याते । व्यासप्रवृत्त्यनुसारिणाऽपि न वेदभगवद्गीते व्याख्यातव्ये । व्याख्यातव्ये तु ते एव सन्देहवारके शास्त्रे ब्रह्मसूत्रश्रीमद्भागवते । इति ।

यदुक्तं वेदे श्रीकृष्णनिरूपणानुपलब्धिरिति । तदपि बुद्धेर्नानामतजालोपरक्ततामूलमेव तत्तदुक्तप्रक्रियानभिज्ञताविजृम्भितमेव च । उद्देशतो निरूपणाभावेऽपि पदार्थतो निरूपणं सदानन्दत्वादिना श्रीकृष्णस्यैवेत्यत्र सन्देहाभावात् । वेदस्य परोक्षवादत्वात् । "परोक्षप्रिया वै देवा" इति श्रुतेः । "परोक्षवादो वेदोऽयम् । परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियमि"ति वचनाभ्याञ्च । यथादर्शिताया विशिष्टायाः प्रक्रियाया अवगमे सर्वस्मिन्नपि वेदे श्रीकृष्णनिरूपणोपलब्धेः । "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इत्यादिगोपालतापन्यादिश्रुतिसमुदायेन निरूप्यमाणत्वाच्च । प्रमाणप्रमेयसाधनफलैः श्रीकृष्ण एव वेदार्थो नाऽन्य इत्युपपादितमनुपदमुपक्षिप्यमाण उपनिषदुपोद्घाते । उपनिषद्भाष्यतश्चैतदवगंस्यते । किमिह बहुना ।

एवञ्च "शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थ", इति साक्षाद्वेदाशयस्य स्वरूपं फलति । उपदिष्टमेतच्छ्रीमदाचार्य्यचरणैः

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवे"ति भगवद्वचनव्याख्यायां तदुक्तार्थनिष्कर्षकथनरूपेण तत्त्वार्थदीपे । विवृतश्चैतच्छ्रीमत्प्रभुचरणैरन्यैश्च विद्वद्भगवदीयैः। तथा हि—"श्रीवल्लभाचार्य्यमते फलं तत्प्राकट्यमथाऽव्यभिचारिहेतुः। प्रेमैव तस्मिन्नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानामि"ति । जीवस्य ह्यणुता जनिश्च जगतो मायोज्झिताद्ब्रह्मणस्ताद्रूप्यादथ सत्यताऽस्य निगमोक्तेष्वादरः कर्मसु । ,सेव्यत्वञ्च सदैव गोकुलपतेः पुष्ट्या पुनः शुद्धया लीलाप्राप्तिरनुत्तमं फलमिति श्रीवल्लभानाम्मतमि"ति च।

तमिमं नाऽन्ये जानन्ति। यथा ते जानन्ति तथा तन्मतादेव विस्पष्टमस्ति। श्रीमदाचार्य्यचरणा एवैके जानन्ति। त एव तमिममुपपादयन्ति स्वकीयेषु प्रबन्धेषु। तदपि तत्प्रबन्धेषु विस्पष्टमेवाऽस्ति।

प्रथमः पक्ष एव च "शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य" इत्येतद्रूपः श्रीमदाचार्य्यचरणानां मुख्यत्वेनाऽभिमतः । एतदेव श्रीवल्लभसम्प्रदायस्य साकारब्रह्मवादापरपर्य्यायस्य श्रीमत्पुष्टिमार्गस्य मुख्यं स्वरूपम्। विशिष्टस्याऽस्य प्रयोजनस्य सिद्धय एव ग्रन्थदिग्विजयपृथ्वीपरिक्रमादिकरणं सम्प्रदायस्थापनञ्च।

प्रथमोऽप्यसौ पक्षः सम्प्रत्यव्यवह्रियमाण एव केवलं ग्रन्थेषु तिष्ठति। द्वितीयः पक्ष एव प्रचलति कालबलाच्छक्तिमान्द्येन यथोक्तविशिष्टाध्ययनासम्भवाद्यथोक्तविशिष्टाध्ययनसिद्धसिद्धान्तानुवर्त्तनपरम्पराप्रवर्त्तनरूपः। अन्यथाचरणान्यथाग्रहणादिदोषसम्भवात्प्राऽयं मुख्यः पक्षः। तथापि दुःसङ्गवर्जनादिना श्रद्धया चोज्झितदोषो दैवस्य पुरुषार्थान्साधयेदिति द्वितीयत्वम्।

मुख्यपक्षप्रचाराभावत एव साम्प्रदायिकेष्वन्यथाचरणं तटस्थानां विदुषां सम्प्रदाये तदाचार्य्यादौ चाऽन्यथा ग्रहणं जगति नानामतजालजनितध्वान्तानुच्छेदाद्यनर्थपरम्परा च प्रवर्धेते। अनिष्टस्याऽस्य निवारणाय मुख्यपक्षप्रचारार्थमुक्तविशिष्टप्रक्रियोपपन्नानां साम्प्रदायिककेन्द्रस्थलेषु साम्प्रदायिकानां विद्यालयानामावश्यकतायामभिनिवेश्यतां मतिरस्माकीना साक्षाद्वेदाशयपरित्राणवद्धपरिकरेण परमेश्वरेण भगवता श्रीकृष्णेनेत्यभ्यर्थनीयमेवैतत्खलु।

तस्मान्नानामतजालात्पृथगेव साक्षाद्वेदाशयस्तत्प्राकट्येन तदनवरोधेनैव च नानामतजालजनितं ध्वान्तं श्रेयस्साधने प्रमुष्णाति तल्लाभेन तत्समाश्रयणेन च प्रसक्तानर्थपरम्परापोहः स चेदानीं श्रीमद्वल्लभाचा-

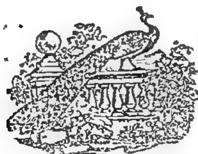
र्य्यचरणैकप्रदर्शितः साकारब्रह्मवादापरपर्य्यायः पुष्टिमार्ग एवेति सर्वेण विदुषा दैवसर्गेण यथोक्तं परीक्ष्याऽनुवर्त्तनीयः समाश्रयणीयश्चेति नेह विचिकित्सावसर उपजातप्रकाशस्य कस्याऽपि सहृदयस्य परमवैदिकस्य सज्जनस्य ।

यदि तु साम्प्रतिकानां सुलभदुःलक्षानां व्याख्याद्वारा साक्षाद्वेदानुपूर्व्यैव दर्शितसमन्वयया साक्षाद्वेदाशयप्रत्ययो नाऽन्यथेति वेदोपनिषद्व्याख्याऽप्यावश्यकीष्यते तर्हि प्रथमपक्षसिद्धसिद्धान्तानुसारिणी द्वितीयं पक्षमनुगता च सेयमीशावास्योपनिषद्व्याख्या बालभाष्यं नाम श्रीमदाचार्य्यचरणानुग्रहेण हृदये प्रकाशिता तावदादौ पुरस्क्रियते ।

अनुगृह्यतामेषा सहृदयलोकेनाऽपि सात्त्विकैः साक्षाद्वेदाशयैकरसिकैर्विद्वद्भगवदीयैश्चेति शुभम् ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

शुभम् ।



श्रीहरिर्जयति ।
श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीगोवर्द्धनोद्धरणधीराय नमः ।
श्रीमदाचार्य्यचरणपादारविन्दमकरन्दबिन्दुपरिस्पन्देभ्यो नमः ।
श्रीमत्प्रभुचरणचरणसरोरुहरेणुराजिभ्यो नमः ।

उपनिषदां बालभाष्यम् ।



उपोद्घातः ।

प्रणम्य श्रीगोवर्द्धनधरपदाम्भोरुहसुधां
तदास्यं यद्दास्यं दृढतरसुपास्यं सुकृतिनाम् ।
चिरं ध्यायं ध्यायं प्रभुचरणपादाब्जयुगलं
यथार्थाख्यां व्याख्यामुपनिषदि भद्रोऽनुभवति ॥ १ ॥

अथाऽत उपनिषदो व्याकरिष्यामः । तत्रोपनिषदां प्रतिपाद्यं दशलीलायुतं श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म ।

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इति "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासे"ति प्रक्रम्य "जन्माऽऽद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादि"ति "नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्" ।

किञ्च—सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् । निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् । सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । सारं सारं समुद्धृतम् । निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् । यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् । संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् । भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शिताः । चत्वार एकतो वेदा भारतं त्वेकमेकत" इति ।

"वेदान्तेषु यथासारं सङ्गृह्य भगवान् हरिः । भक्तानुकम्पया विद्वान् सञ्चिक्षेप यथासुखम्" ।

अपि च—"कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि । ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः । वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि । समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् । अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नाऽन्यथा । एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन" ।

अपरञ्च—"वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यम् । यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः । अयमेव महामोहो ह्रीदमेव प्रतारणम् । यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती । अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणैः सहित-भारतपञ्चरात्रैः । अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैर्निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव । अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि । सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वचसामपि । श्रौतोऽर्थो ह्ययमेव स्यादन्यः कल्प्यो मतान्तरैः । वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।

इत्यादिभिः परस्सहस्रैः श्रुतिस्मृतिपुराणवचनैः श्रीमदाचार्य्यचरणनिश्चितार्थ-वचनैश्च श्रीकृष्ण एव वेदवेदान्तादिसकलशास्त्राणां प्रतिपाद्यमिति मस्पष्टमेतत् ।

. इदमुक्तं भवति । श्रीकृष्णवाक्यसमाधिभाषानारदपञ्चरात्रमहाभारताद्याद-शपुराणानामङ्गानामुपाङ्गानामुपपुराणानाञ्च वेदार्थव्याख्यानत्वमिति तावज्ज्ञाने वेदार्थस्य हृदये स्वतः परिस्फूर्त्यो सर्वतः सर्वथाऽपरिशेष्य प्रकाशस्याऽवश्यम्भा-वित्वादनयैव प्रक्रियया वेदार्थो विज्ञातः सुविज्ञातो भवति । अपरोक्षत्वात् । भिन्नया प्रक्रियया तु टीकादिरूपयाऽऽपाततः परोक्षः प्रतीतो भवति । तस्माच्चैव प्रक्रिया वेदार्थविज्ञान आदौ स्थिता । प्राञ्चो ह्यधीतसाङ्गवेदवेदान्तगीतासूत्र-श्रीमद्भागवतादिपरिकराः श्रीमदाचार्य्यचरणोक्तप्रकारेण निवृत्तसंशयास्तत्प्रद-र्शितसरलसरण्याऽधिगतवेदवेदान्ताद्युक्तनिखिलशास्त्रजालैकवाक्यताकाः परमा-र्थतः प्रकाशमानवेदार्थयाथातथ्या बभूवुः । तेषां टीकादिरूपया प्रक्रियया गृहीतो वेदार्थो नोपयोगाय । सर्वथा ब्रह्मविद्याप्रचारेप्सया च न गौणं मार्गं ते जगृहुः । अत्यन्तमुपयोगाभावात् । तथापि वैदिकसर्वार्थानां तथा प्रकाशाभा-वेऽपि सर्वेषां शास्त्राणामयमर्थ इति निश्चयमाधाय तदुक्तभगवत्सेवासरणौ

मंश्चः पुरुषार्थं साधयेदिति टीकादिरूपयाऽपि प्रक्रियया पुरुषार्थप्राप्त्या टीकाऽप्युपयुज्यत इति सेयमारभ्यते । विशेषमात्रनिरूपणं त्वाचार्यकृतम् । तत्राऽप्युत्तमाधिकारिणं शब्दादिशास्त्रेषु सुव्युत्पन्नं प्रति । तस्मादपि तैस्तद्‌करणमिति ।

तथापि तैस्तत्सरणिः सरलीकृतैवाऽस्ति । तथाहि—वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानीत्यत्र । "वेदा इति । शब्द एव प्रमाणम् । तत्राऽप्यलौकिकज्ञापकत्वेन । तत्स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम् । वेदाः सर्वे एव काण्डद्वयसिताः । अर्थवादादिरूपा अपि । स्मृतित्वेन कृष्णवाक्यानि वेदत्वेऽपि पृथगुक्तानि । व्याससूत्राणि । चकाराज्जैमिनिसूत्राणि च । एवकारेण व्याससूत्राविरोधेनैव तदङ्गीकरणम् । हि युक्तश्चाऽयमर्थः । उपजीव्यत्वात् । व्यासस्य समाधिभाषा भागवतम् । तत्रापि यत्र लौकिकरीत्या वदति । यथा—अथोपस्पृश्य सलिलं इत्यादि । नापि परमतरीत्या । श्रुतं द्वैपायनमुखादित्यादि । यावत्समाधौ स्वयमनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा । एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमित्यर्थः" इति ।

अत्र शब्दप्रामाण्यविचारं विना वेदप्रामाण्यविचारं विना चोपनिषदामर्थनिर्णयस्य तत्कथनस्य चाऽनवसरपराहतत्वादादौ प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तेः सम्भवात्तत्सम्भवरहितालौकिकज्ञापकशब्दस्य स्वरूपसिद्धं प्रामाण्यं–प्रमाणान्तरापराहतप्रामाण्यकं प्रामाण्यं–व्यवस्थाप्य तच्च पूर्वोत्तरकाण्डस्थितानां सर्वेषामपि वेदानां तुल्यमर्थवादानामपि विधिसमकक्षमिति तदसङ्कुचितमिरुक्त्वा भगवद्गीताया वेदत्वमेव भगवद्वाक्यत्वात्स्मृतित्वं त्वर्जुनाधिकारमनुसृत्य भगवल्लोकत्वापेन तदुभयात्मकं वेदवत्प्रमाणं चैति वेदार्थस्य श्रीकृष्णवाक्यानुसारित्वाय कथयित्वा मीमांसात्वाद्व्यासजैमिनिसूत्रानुसारित्वमप्यावश्यकं तत्रापि व्यासाविरोधेनैव जैमिनेः प्रामाण्यं न स्वतन्त्रं तस्य व्यासशिष्यत्वेन व्यासविरोधस्याऽसम्भवाद्व्यासस्याप्तदोषाद्विरोधः प्रतिभाति सोऽपहस्तितव्य इति निरूप्य ब्रह्मजिज्ञासान्ते शास्त्रे विरचितेऽपि श्रीमद्भागवतेनैव व्यासपरितोषस्य श्रीभागवते निरूपणात्तदनुसारित्वमपि सर्वथैवाऽपरिहार्य्यमिति निरूपितम् ।

एवञ्च भगवद्गीताब्रह्मसूत्रश्रीमद्भागवतैर्निरस्तसमस्तसंशयो व्याख्यातो निर्णीतश्च यो वेदार्थः स वेदार्थः । स च दशलीलायुतः श्रीकृष्णः । सोऽपि— "अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम् । यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाऽभिपद्यते । अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज" इत्येवम्प्रकारेण जीवानां समस्तानर्थपरम्पराप्रवाहनिवारणायाऽनुग्रहवर्षाप्रावृषेण्यपयोदीभूतः केवलानुग्रहमात्रलभ्यः सततानुग्रहकातरश्च स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपश्च । नाऽन्यविधः । सर्वपुरुषार्थसाधकश्च । मायासद्भावे प्रतीतानां धनधामधरादीनां पुरुषार्थत्वाभावेन मायानिवृत्त्यैव वास्तविकसर्वपुरुषार्थावाप्तिनिर्णयेन चाऽन्यथा तदसिद्धेः । "कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यत" इति वचनात् । "तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः । तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तमूलो यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोक" इति वचनाच्च । "यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे"ति वचनाच्च । पूर्णं करुणया सामर्थ्यादिना च । तेनाऽनुग्रहैकलभ्यो भक्तियोगो भगवांश्च । अनुग्रहैकसाध्यैव च मायातत्कृतानर्थयोर्निवृत्तिः । ततश्च भक्तानुग्रहव्यग्रो विविधलीलाविलासविराजितः षडैश्वर्यपरिपूर्णो भगवान् श्रीकृष्ण एव केवलो वेदार्थो नाऽन्य इति श्रीमदाचार्यचरणैर्निरूपितम् ।

न च "पुराणन्यायमीमांसे"त्यादिवचनविरोध इति शङ्क्यम् । उक्तमानचतुष्टयाविरोधेन तत्प्रामाण्यस्य स्वीकारात् । "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमि"ति सूत्रात् ।

ननु पूर्वतन्त्रे कर्मण्येव वेदस्य तात्पर्यकथनादिह च श्रीकृष्णभक्तावेव तात्पर्यकथनात्किं युक्तमित्यत आहुः—उत्तरं पूर्वसन्देहवारकमित्यादि । तथा चोक्ते सन्देहे—"सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तममि"ति भक्तावेव तात्पर्यनिर्णयः । "भक्त्या मामभिजानाती"त्यादिवाक्यात् ।

एवमेव वेदोक्तं परं ब्रह्म निर्विशेषं वा सविशेषं वा शिवाद्याकारं विष्ण्वाद्याकारं कृष्णाकारं वेत्यादिसन्देहे—"अहं सर्वस्य प्रभवः । मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय । यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके

वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । नाऽहं प्रकाशः सर्वस्ये"-त्यादिभिः श्रीकृष्णाकारं सर्वाप्राकृतविशेषरूपञ्चेति "येऽप्यन्यदेवताभक्ता" इति वचनान्न देवतान्तररूपमिति निर्णयः ।

ननु पूर्वकाण्डे कर्मणां प्रतिपादनमुत्तरकाण्डे च ज्ञानप्रतिपादनमस्ति । श्रीगीताभागवतयोश्च श्रीकृष्णप्रतिपादनं तद्भक्तिप्रतिपादनञ्च स्वः । कथमेषामेकवाक्यतेति चेन्न । "यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे । अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्य्यते" इति श्रीमदाचार्य्यवचनात् । अत्राऽयम्प्रकाशः—"यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति श्रुतेर्ज्ञानक्रियोभययुतः सर्वेषामर्थः । तत्र क्रियायां प्रविष्टः क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थः । ज्ञाने प्रविष्टो ज्ञानात्मा ब्रह्मरूप उत्तरकाण्डार्थः । तनुशब्दः साकारब्रह्मप्रतिपादनाय । परे उत्तरस्मिन् काण्डे । क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य योऽवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते । अतः खण्डशो निरूपणं वेदे । भागवते [illegible] समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधा निरूप्यन्त इत्येकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तमित्यर्थः" इति ।

तथाच वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्डयोः श्रीगीताभागवतयोश्च सर्वत्र श्रीकृष्ण एव निरूप्यते । तत्र पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रियात्मा ज्ञानात्मा च श्रीकृष्णः खण्डशो निरूप्यते । श्रीगीताभागवतयोश्च तदुभयविशिष्टस्तत्स्वरूपानुरूपा विविधास्तल्लीलाश्च गोवर्धनोद्धरणादिरूपा निरूप्यन्त इति प्रकारभेदाद्विशेषेऽपि वेदार्थः श्रीकृष्ण इत्यत्र नास्ति स्तोकोऽपि सन्देहः ।

ननु वेदे सूर्य्याद्युपासना निरूप्यन्ते । पुराणे च दुर्गागणपतिप्रभृतीनामुपासना निरूप्यन्ते । शिवादयस्तु जगत्कर्तृत्वादिरूपब्रह्मलक्षणवत्त्वेनैव प्रतिपाद्यन्ते । कथमेतर्हि श्रीकृष्णस्यैव वेदार्थत्वं प्रतिपत्तव्यमिति चेन्नैवम् । अत्राऽऽहुः श्रीमदाचार्य्यचरणाः—"सूर्य्यादिरूपधृग्ब्रह्मकाण्डे ज्ञानाङ्गमीर्य्यते । पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा" इति । अयञ्चेह प्रकाशावरणभङ्गयोराशयः— "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ती"ति श्रुतेः "येऽप्यन्यदेवताभक्ता" इति गीतावाक्याच्च यष्टव्य उपास्यश्च तत्तद्रूपो हरिरेव यागशेषत्वेनोपासनाशेषत्वेन च निरूप्यत इत्यङ्गानामङ्गिसापेक्षत्वात् "स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं

पुनः संहृत्य जायत" इत्यङ्गनिरूपकत्वेन तेषामेकवाक्यतैव न विरोधः । अन्यार्थप्रतिपादनप्रतिपत्तिर्भ्रान्त्या ।

ननु तत्र नानादेवतानामुपासनानाञ्च निरूपणाच्चैषां तृतीयकाण्डत्वेन जैमिनिना सङ्कर्षणकाण्डाख्यतन्मीमांसाप्रणयनाच्च स्वतन्त्रार्थप्रतिपादनपरतैवाऽवसीयते नाऽङ्गनिरूपणपरतेति । उपासनानां मानसकर्मरूपतया कर्मकाण्डान्तःपातो वा । उभयथाऽपि नानादेवतातदुपासनप्रतिपादनपरता प्राप्नोति नाऽङ्गाङ्गिभावेन श्रीकृष्णप्रतिपादनपरतेति चेन्मैवम् । ब्रह्मकाण्डे ज्ञानसिद्ध्यर्थमुपासना निरूप्यते । तथाच द्वितीयेऽवान्तरवाक्येषूपासनानां निरूपणात्र तृतीयकाण्डत्वं शक्यं कल्पयितुम् । पाशुकतत्रवत्कर्मकाण्डानन्तर्गतत्वाच्च न तदन्तःपातः शक्योपपादनः । जैमिनिकृतभेदस्तु व्यासविरोधे उपेक्षणीयः । तस्मात्सूर्य्याद्युपासनानामङ्गत्वं न स्वतन्त्रत्वम् ।

तच्चित्तशुद्धिद्वारैवेति केचित् । तदसत् । फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारेति सिद्धान्तात् । यत उद्गीथादिसूर्य्याद्युपासनया तत्तत्प्रकरणोक्तं फलं तेन तेनोपास्येन दीयते । तेषाञ्च प्रतीकत्वेन तत्कृतफलदानान्मूलरूपमाहात्म्यमेव प्रतिपादितं भवति । ज्ञाते च माहात्म्ये तत्र भक्तिस्तया ज्ञानम् । "भक्त्या मामभिजानाती"ति भगवद्वाक्यात् । तथाच मूलरूपमाहात्म्यायैव देवतान्तरतदुपासनानां तत्र तत्र निरूपणं न देवतान्तरप्राधान्यायेति ।

ननु भवत्वेवं वेदे । तथापि पुराणे तु नाऽयं न्यायः सङ्गच्छते । तत्र प्रतिपाद्यदेवताया मुख्यत्वस्यैव प्रतीतेः । मैवम् । पुराणोक्तानां दुर्गागणपतिप्रभृतीनां विशिष्टशेषत्वमावरणदेवतात्वेनाऽस्ति । न शेषित्वमस्तीति तदभावात् ।

नन्वस्त्वेवं दुर्गादिस्थले । शिवादिस्थले तु मुख्यत्वमेव निरूप्यते । जगत्कर्तृत्वादिरूपब्रह्मलक्षणवत्त्वेनैव तत्प्रतिपादनादिति चेत्सत्यम् । शिवादिरूपस्य हरेरेव तन्माहात्म्यं निरूप्यते । तस्यैव सर्वरूपत्वात् । "एकोऽहं बहु स्यामि" त्यादिश्रुतिशतेभ्यः । "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता" इत्यादिभ्यः परस्सहस्राभ्यः स्मृतिभ्यश्च तथाच विकृतिन्यायेन तत्र रूपान्तरप्रतिपादकत्वान्मुख्यप्रतिपादकशेषत्वेन मूलरूपमाहात्म्यमेव निर्वर्णितं भवति नाऽन्यदेवप्राधान्यमिति हरेरेव हि साध-

न्नरूपः फलरूपश्चेति सर्वत्र श्रीकृष्णः शास्त्रार्थो नाऽन्यः। "सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति। नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति। सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते। मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्। सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते। स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः। पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः। मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत। एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवा। यो नरः पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्। यो नरः श्रीहरिं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्। योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किन्तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणेत्यादिः श्रुतिस्मृतिपुराणादिपरस्सहस्रवाक्यगणोऽप्यत्राऽनुसन्धेयः।

ननु शिवपुराणादिषु भगवद्गीतादौ पारतम्यादिनाऽभिष्टुतस्य भगवतः श्रीकृष्णस्याऽपि शिवार्चनादिविधानेन शिवस्यैव पारतम्यं प्रतिपाद्यते। हरिवंशादिषु विष्णुशिवाभेदश्च भूयसा समारम्भेण निर्णीयते। "यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु। त्वदुपासा जगन्नाथ सैवाऽस्तु मम गोपते" इत्यादीनि वचनान्यपि भूयांस्येवोपलभ्यन्त इति शिवपारतम्यमेव शास्त्रार्थो वा विष्णुशिवाभेद एव वा शास्त्रार्थः स्यान्न पुनः श्रीकृष्ण एव केवलः शास्त्रार्थ इति सुवचमिति चेत्। तदसत्। आसुरव्यामोहनार्थत्वात्तस्य। नरकैकोदर्कतयाऽनादरणीयत्वाच्च। विभूतिपरतया व्यवस्थितत्वाच्च।

तथाच वचनानि। वाराहे। "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय। अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज। प्रकाशं कुरु चाऽऽत्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु"। पाद्मे। त्वामाराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा। द्वापरादौ

युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान्मद्विमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा" । पुनश्च तत्रैव गुणत्रयविवरणाध्याये शिवेनोक्तम्–"शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् । येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि । प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् । मच्छक्त्याऽऽवेशितैर्विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परम् । कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् । गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यं तु कपिलेन वै । धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् । दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा । बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् । मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते । मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा । अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितम् । कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते । सर्वकर्मपरिभ्रष्टं विकर्मत्वं तदुच्यते । परेशजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते । ब्रह्मणश्च परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया । सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे । वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् । मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात् । द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थतः । निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् । शास्त्राणि चैवं गिरिजे तामसानि निबोध मे" । पुनर्वाराहे रुद्रगीतासु विष्णुरुवाच–"सर्वज्ञस्त्वं न सन्देहो ज्ञानराशिः सनातनः । देवानाञ्च परः सर्वदा त्वं भविष्यसि । एवमुक्तः पुनर्वाक्यमुवाचोमापतिर्मुदा । अन्यं देहि वरं देव प्रसिद्धं सर्वजन्तुषु । मूर्त्तो भूत्वा भवानेव मामाराधय केशव । मां वहस्व च देवेश वरं मत्तो गृहाण च । येनाऽहं सर्वदेवेश पूज्यात्पूज्यतरो भवे । विष्णुरुवाच–देवकार्य्यावतारेषु मनुष्यत्वमुपागतः । त्वामेवाऽऽराधयिष्यामि त्वं च मे वरदो भव । यत्त्वयोक्तं वहस्वेति देव देव उमापते । सोऽहं वहामि त्वां देव मेघो भूत्वा शतं समा" इति ।

किञ्च । श्रीभागवते । "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा" इत्यादि । नारायणोपनिषदि । "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदमि"त्युपक्रम्य "स ब्रह्म स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडि"ति । पुनश्च श्रीभागवते । "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु

तत्र कुधियः पर ईश कुर्य्युः" । पाद्मोत्तरखण्डे पार्वतीं प्रति शिवः । "यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः । समत्वेनैव वीक्षेत स पाखण्डी भवेत्सदा" । तैत्तिरीये । "नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" । आथर्वणे । "एको ह वै नारायण आस" । नारदपञ्चरात्रे द्वितीयरात्रतृतीयाध्याये शिवः । "गुणान्तरं तीर्थकीर्त्तेः को वा वक्तुं क्षमो मुने । नाऽहं ब्रह्मा च शेषश्च धर्मः सूर्य्यस्तथैव चे"त्याद्युपक्रम्य–"नैव कृष्णात्परो देवो नैव कृष्णात्परः पुमान् । नैव कृष्णात्परो ज्ञानी न योगी च ततः परः । नैव कृष्णात्परः सिद्धस्तत्परोऽपि महीश्वरः । न तत्परश्च जनको विश्वेषां परिपालकः । न तत्परश्च बलवान् बुद्धिमान् कीर्तिमांस्तथा । न तत्परः सत्यवादी दयावान् भक्तवत्सलः । न तत्परश्च गुणवान् सुशीलश्च जितेन्द्रियः । शुद्धाशयश्च शुद्धश्च न तस्माद्भक्तवत्सलः । न हि तस्मात्परो धर्मी प्रदाता सर्वसम्पदाम् । न हि तस्मात्परः शान्तो लक्ष्मीकान्तात्परश्च कः" । इत्यादि । श्रीभागवते । "निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा" । श्वेताश्वतरे । "न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते" । नारायणोपनिषदि । "अम्भस्य पार"इति प्रक्रम्य–"यमन्तः समुद्रे कवयोऽवयन्ती"त्यादिलिङ्गकथनपूर्वकं "सदेव ब्रह्म परमं कवीनामि"ति श्रावितम् । "सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुरि"त्यत्र शिवनामविवरणे विष्णुसहस्रनामभाष्ये शङ्कराचार्य्याः–"निस्त्रैगुण्यतया शुद्धत्वाच्छिवः । स ब्रह्म स शिव इत्यभेदादेशाच्छिवादिनामभिर्हरिरेव स्तूयत" इति । हरिरपीति नोचुः । किन्तु हरिरेवेति । पद्मपादाश्च न्यायमुदाजह्रुः– "सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः" । इति ।

एवञ्च शिवपारतन्त्र्यस्य व्यामोहनार्थत्वाद्विष्णुशिवाभेदस्य विमुक्त्येकविषयत्वेन व्यवस्थितत्वादंशांशिनोरभेदस्याऽपि तादात्म्यमात्रगोचरत्वेन वस्त्वन्तरत्वाभाववत्त्वेऽपि भेदानाघ्रातभेदत्वेनाऽव्युत्पन्नतया परमताभिमतसाधकत्वात्कार्य्यात्कारणाभेदस्य प्रमत्तप्रलपितत्वापत्त्या प्रेक्षावदपेक्षाविरहितत्वादेकत्वलक्षणाभेदस्य व्यक्तिभेदरूपभेदनामभेदकार्य्यभेदादिभिः सत्प्रतिपक्षतया प्रत्यक्षबाधितत्वाद्भेदाभावेऽभेदोक्तेरतिप्रसङ्गग्रस्तत्वाद्भेदान्तरस्य चाऽप्रसिद्धेश्च वचनान्तरेभ्यश्च व्युत्पन्नत्वाच्च सर्वकारणस्य पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य सर्वोत्कर्षः सर्वथैव दुरपलपः । अथाऽऽविद्यकत्वाद्भेदस्याऽभेद इत्युच्यते । तदेतदन्यत् । उपासनाप्रकरणे केवलाद्वैतसिद्धान्तस्याऽनुपस्थितेश्च । विष्णुशिवाभेदासाधकत्वञ्च ।

तस्माच्छ्रीकृष्णतल्लीलाप्राप्तिश्च फलं तत्सेवा च तत्साधनं तत्तदवान्तरसाध्यसाधनरूपोऽपि स एव नाऽन्य इत्यादिरर्थ एव वेदप्रतिपाद्यो ,नाऽन्य इति जीवैर्निश्चयेन दृढं बोद्धव्यम् । नेह सन्देग्धव्यम् । "संशयात्मा विनश्यती"ति वाक्यात ।

ननु "तत्त्वमसी"त्यादिनिरूपिते ज्ञान एव सर्वानर्थनिवृत्त्या प्राप्यान्तराभावात्पुरुषार्थसमाप्त्या क भक्तौ वेदतात्पर्य्यमिति चेन्नैवम् ।

निरुपधिप्रियो ह्यात्मा । "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती"ति प्रियत्वमुपक्रम्य हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य" इति निरुपधिप्रियत्वमात्मनः श्राव्यते । तद्दर्शनार्थमेव च श्रवणमनननिदिध्यासनानि साधनानि श्राव्यन्ते । प्रियश्चाऽदर्शनश्चेति महती हि खल्वियं दुःखोद्रेकिण्यनर्थपरम्परा नूनं निवर्त्तनीयेति.। सा च श्रवणादिना ज्ञानद्वारा दर्शने सत्येव निवर्त्तते नाऽन्यथा । "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर" इति हि सहस्रश उपबृंहणान्युपलभ्यन्ते । "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती"ति जीवोपक्रमेऽपि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य"इत्युपसंहारे सर्वकारणस्य परमात्मन एव दर्शनश्रवणादि विधीयते । न जीवाना परमात्मकार्य्याणाम् । यथा "सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा" इति श्रुतेस्तेषामानन्त्याद्बहुवचनप्रसङ्गात् । "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितमि"त्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानकथनलिङ्गात् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेने"त्यादिभि श्रुत्यन्तरैः कार्य्यकारणभावात्मनैवोपपादनात् । "वाक्यान्वयात् । प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः । उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः । अवस्थितेरिति काशकृत्स्न" इत्येतेभ्यः सूत्रेभ्यः । तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयमि"त्याद्युपबृंहणशतेभ्यश्च ।

तथाच जीवस्य निरुपधिप्रियत्वं न स्वतन्त्रं किन्तु परमात्मनोंऽशकृतम् । एवमेवाऽऽशांशिभावं कार्य्यकारणभावमेव वा पुरस्कृत्य जीवस्य परमात्माभेद"स्तत्त्वमसी"त्यत्राऽप्युपदिश्यते । तत् त्वमसीति ह्युपदिश्यते । तदभिन्नस्त्वमित्यर्थः । न त्वं तदस्तीति । त्वदभिन्नं ब्रह्माऽस्तीत्यर्थः । त्वमेव ब्रह्म ।

त्वद्व्यतिरेकेण ब्रह्म नाऽस्तीति नोपदिश्यते । तथा सति वाक्यमुक्तरूपं भवेन्न यथा श्रुतम् । उद्देश्यविधेयभावेन तदेवोपदिश्यत इति चेदद्वैतासिद्धिः । अवच्छेदकभेदात् । भागत्यागलक्षणया शुद्धचैतन्यबोधश्चेदुपदिश्यते । तदसत् । विनिगमनाविरहात् ।

न च परमात्माभेदोपदेश एव जीवस्य का विनिगमनेति वाच्यम् । श्रुत्यन्तरानुग्रह इति प्रदर्शितम् । किञ्च । "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा" इत्युपक्रम्य "स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिद्ँ सर्वं तत्सत्यमि"त्यन्तेन विवर्त्तोपादानकत्वनिरासेन सदुपादानकत्वं समन्वयादिति तत एव सर्वस्याऽस्य कारणाभिन्नत्वं पञ्चविकारराहित्येनाऽऽविर्भावतिरोभावशालित्वमिति च व्युत्पाद्य जडजीवयोर्वैलक्षण्ये सति कथमुभयोः सदात्मकत्वमित्याकाङ्क्षायां स "आत्मे"ति स परमेश्वरः सर्वस्य स्वरूपभूतो यथा सुवर्णं कटककुण्डलादीनां तथा जीवानामंशानां कार्य्याणां घटपटादीनाञ्च स्वरूपभूतः सः । तेनोभयवैलक्षण्येऽपि तयोः सदात्मकत्वं सूपपन्नमित्युपपाद्य जीवस्य तदात्मकत्वमाह—"तत्त्वमसी"ति । तथा सत्युपक्रमानुकूलत्वमत्र विनिगमना ।

"अपि वा तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्रमे प्रतिज्ञातम् । तच्चदोपपद्यते यदि सर्वमप्येकमेव वस्तु भवेत् । सुवर्णमेव हि सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्य्यञ्च । तत एव सुवर्णे ज्ञाते सुवर्णं सर्वमिति प्रत्यभिज्ञावसरः । न वस्त्वन्तरत्वेऽपि । वस्त्वन्तरत्वाभावायैव "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्यारभ्य निरूपणम् । सन्मूला इत्यादिना समन्वयं प्रदर्श्यैतदात्म्यमिदं सर्वमिति सर्वस्य जडस्य सदभेद उपपादितः । तत्सत्यमिति समर्थितश्च । एवमेव तत्त्वमसीति जीवस्य सदभेद उपदिश्यते । उभयोरपि, निरुपधिप्रियत्वोपपादनार्थं मध्ये स आत्मेत्युक्तम् । आत्मानात्मकृतो भेदस्त्वज्ञानवतामूढानामेव । न ज्ञानिनाम् । तेषां सर्वत्राऽऽत्मदर्शनान्नान्यत्र वैराग्यं दुःखदोषादिभानं च । किन्तु जीवे जडे चोभयत्राऽप्यात्मत्वभानेन परमा प्रीतिरात्मत्वानुगता । विषयत्वानुगता हि परिहार्य्या न त्वात्मानुगता । तत्र कोऽपि कुचोद्यावसरः ।

यथैतदात्म्यमित्यत्र न भागत्यागलक्षणा । तथैव तत्त्वमसीत्यत्राऽपि न भागत्यागलक्षणा । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्तदैवोपपत्तेः । एकवि-

ज्ञानेन सर्वविज्ञाने अभिन्ननिमित्तोपादानता सृष्टिकरणं सङ्कल्पमात्रेण च तदितरस्यसहायशूरता सृष्टेः स्वाभिन्नत्वेनाऽऽत्मरूपतया निरुपधिप्रियत्वं निर्दोषत्वञ्चेति भगवतो माहात्म्यमेव ग्राहितं भवति । महांश्चाऽसावात्मा चेति महात्मा । तस्य भावो माहात्म्यम् । महत्त्वमभिन्ननिमित्तोपादानत्वादिलक्षणं निरुपधिप्रियत्वलक्षणञ्चाऽऽत्मत्वमेतदुभयज्ञानमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य फलम् ।

आत्मत्वेन निरुपधिप्रियत्वात्तत्र भक्तिरेव स्वारसिकी तात्पर्य्यविषयश्च । न ज्ञानमुपसर्जनीभूतम् । भक्त्युत्पत्तावुपक्षीणत्वात् । तत एव "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे"ति निष्कृष्टवचनम् ।

भक्तिस्तावदद्वयात्मिका । माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहरूपत्वात् । तामेव श्रुतिः प्रतिपादयति । सहस्रशः सृष्टिभेदाननुवती माहात्म्यं ज्ञापयति । तदर्थमिह सदेव सौम्येत्यारभ्यैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मेत्यन्तेन सृष्टिं निरूपयति । स आत्मा स परमात्मा आत्मा स्वरूपभूतः सर्वस्येति जडस्य तदात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्याऽऽप्यात्मत्वेन प्रतिपन्नस्य तदात्मकत्वं ब्रूते—तत्त्वमसि । तेन जीवस्याऽऽत्मत्वेन स्फूर्त्तौ परमात्मैव समन्वयात्कारणम् । नाऽन्यथा जीवस्याऽऽत्मत्वमुपपद्यते । तस्मात्परमात्मैव वस्तुतो जीवस्याऽऽत्मा न जीवस्य स्वात्मा आत्मेति स्वात्मनि जीवस्याऽऽत्मत्वप्रत्ययं न्यकृत्य सर्वकारणे सर्वात्मनि पुरुषोत्तमे भगवति श्रीकृष्णपरब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्ती स्वात्मवत्तत्रैव निरुपधिप्रियत्वञ्च दर्शयन्ती तत्रैवाऽनन्यभक्तिः स्वाभाविकी पुरुषार्थ इति सिद्धान्तयति ।

यद्यात्मज्ञानमेव तस्या विधित्सितं स्यान्न परमात्मभक्तिस्तदा सदेवेत्यारभ्य तत्कृतां सृष्टिमेतदात्म्यमित्यादिना तदात्मकतां तत्सत्यमिति निर्दोषतां स आत्मेति परमात्मनः सर्वस्वरूपभूतत्वमिति किमपि पूर्वं न वदेत्तत्त्वमसीत्येतावन्मात्रमेवोपदिशेत् । यस्मादद्वयमपि श्रुतिर्निरूपयति तस्माद्भक्तावेव स्वतात्पर्यं मदर्शयतीति न कश्चित् सन्देहोदयसमय इति दिक् ।

इत्युपोद्घातः ।

श्रीहरिर्जयति ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीगोवर्द्धनोद्धरणधीराय नमः ।

श्रीमदाचार्य्यचरणपादारविन्दमकरन्दपरिस्पन्देभ्यो नमः ।

श्रीमत्प्रभुचरणचरणसरोरुहरेणुराजिभ्यो नमः ।

ईशावास्योपनिषद् ।

श्रीमत्प्रभुचरणप्रथमापत्यश्रीशोभादेवीवंशलब्धजन्मना
श्रीमद्रामचन्द्राध्वरिश्रीहरिहरदीक्षितश्रीगणेशदीक्षितानुगृहीत-
त्रिगृहतैलङ्गवेल्लनाटीयकुलकलशोदधिकलानिधिना
पुष्टिमहाविद्यानिष्णातभट्टश्रीदेवकीनन्दनदेवशर्म्म-
तनुजनुषा

पण्डितभट्टश्रीबलभद्रशर्म्मणा

कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषणकविरत्नमहामहोपदेशक-
विद्यालङ्कारवेदान्तविद्यानिधिसनातनधर्म्ममार्तण्ड-
श्रीसुबोधिनीसुधाधाराधरेण
विनिर्मितसाकारब्रह्मवादानुसारिबालभाष्यविभूषिता ।

नमः श्रीकृष्णदेवाय योऽद्वितीयोऽपि सर्वथा ।
ईशेशितव्यो रमते पूर्णानन्दघनाघनः ॥ १ ॥
सिद्ध ईशावास्य ईशः सुपथश्चाऽर्थिनामपि ।
योऽसिस्ते श्रीमदाचार्य्यचरणास्तान्नमाम्यहम् ॥ २ ॥
श्रीमदग्निकुमाराय कुमतध्वान्तनाशिने ।
श्रीमते विठ्ठलेशाय तदीयेशाय ते नमः ॥ ३ ॥

अथोपनिषदस्तास्ता व्याचिकीर्षुस्तदिच्छया ।
तानहं करुणापूर्णाविर्भावाच्छरणङ्गतः ॥ ४ ॥
न लक्षणोच्यते नैव न्यूनत्वात्पूर्तिरन्यतः ।
आर्थिकन्तूच्यते यच्चाऽनुगुणं ह्युपबृंहणम् ॥ ५ ॥
मतान्तरनिरासेन नैरस्यं नाऽतिसृज्यते ।
तस्माऽऽकरेषु सिद्धत्वात्सरसं परिवेष्यते ॥ ६ ॥

अथ वेदानामुभयकाण्डस्थितानामपि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । वासुदेवपरा वेदाः । नारायणपरा वेदाः । मां विधत्तेऽभिधत्ते मामि"त्यादिप्रमाणगणेन भगवत्परत्वमेव ब्रह्मवादिनो निर्णयन्ति । "यदेव श्रद्धया करोति विद्ययोपनिषदा तदेवाऽस्य वीर्य्यवत्तरं भवति । ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिस्स्यात्तथा नाऽविदुषो भवेदि"त्यादिभिर्वचनैर्विद्यायाः कर्माङ्गत्वात्कर्मणा वा विद्यासमुच्चितेन कर्मणा वा मोक्षादिपुरुषार्थसिद्धेरुत्तरमीमांसायां तृतीयाध्यायतुरीयपादे "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिरि"त्यादिषु सूत्रेषु भगवता श्रीबादरायणाचार्य्येण जैमिनिमतरीत्या प्रदर्शनात् । श्रीभागवतादावपि प्रियव्रतोपाख्यानादिना तत्स्थापनात् । "ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद्भवेदि"ति तत्त्वदीपे सर्वनिर्णयारम्भे श्रीमदाचार्य्यचरणवचनामृताच्च । ज्ञानकाण्डस्थितानां तु भगवत्परत्वं प्राञ्जलमेव । साकारब्रह्मवादस्यैव तत्प्रतिपाद्यत्वात् । ईक्षत्यादिनिरूपणात् । ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिकथनात् । तस्य तदनन्यत्वस्थापनाच्च । साधनञ्च फलञ्च ब्रह्मैवेति सिद्धान्तेन "पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः । अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनादि"ति तृतीयाध्यायतुरीयपादसूत्राभ्याञ्च वेदान्ता ब्रह्मपरा इत्यसन्देहमेतत् । इहाऽधिकोपदेशविषयवाक्ये "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाऽनाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ती"त्यत्र विविदिषाद्वारा वेदानुवचनादीनां भगवत्परत्वं भगवाञ्छ्रीबादरायणाचार्य्योऽप्यनुमन्यते । साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वमेव नाऽनुमन्यते । वरणाधीनत्वात्तस्य । श्रूयते हि—"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया

न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि''ति । तस्माद्वेदाश्च वेदान्ताश्च भगवत्परा इति निर्विवादमेवेति स्थितम् । तथा सति प्रपञ्चासक्तिरहिता भगवदासक्तिः कार्य्येति सकलवेदतात्पर्य्यगोचरोऽर्थः सिद्ध्यति । सैव हि परमपुरुषार्थः । ''एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गमः । शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः । असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या । भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेदि''त्यादिवचनेभ्यः । यदप्यविद्यादशायामगयं मुक्तिरिति मतिभातं पुरुषार्थस्वरूपं तदप्येतत्साध्यमेव । नाऽन्यथा विद्याविद्यापगमौ सम्भवतस्ताभ्याञ्च तत्सिद्ध्यवसरः । अवान्तरव्यापाररूपञ्च । भक्त्या विद्याविद्यापगमाभ्यां मुक्तौ मत्त्यैकपुरुषार्थत्वबुद्धेरुदयात् । ''अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम् । इदमनुश्रद्धयोपचितयाऽनुशृणोत्यावयति वाऽवहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्त्तते । यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाऽऽद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः । राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियं कुलपतिः क्व च किङ्करो वः । अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे'' इत्यादिवाक्येभ्यः । भक्त्यैव चेयं भवति पूर्णा च । नाऽन्यथा । ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे''ति वाक्यात् । ''भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि''ति वाक्याच्च । ''भजधात्वर्थः सेवा । प्रत्ययार्थः प्रेमे''ति

तत्त्वार्थदीपे सर्वनिर्णये "प्रेमसेवात एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरुत्तमे" त्यत्र निर्णयात्प्रेमपूर्विका सेवा भक्तिः । प्रेम च माहात्म्यज्ञानपूर्वकं ज्ञानानभिभूतं सर्वातिशायि च निरुपाधिकम् । तत्र माहात्म्यज्ञानं "जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मत" इति तत्त्वार्थदीपात्रेधाऽवस्थितस्य प्रपञ्चस्याऽभिन्ननिमित्तोपादानवादाविकृतपरिणामवादाभ्यां भगवत्कार्य्यतातदात्मकतातद्रूपतातदनन्यतानां श्रवणमनननिदिध्यासनैर्दर्शनेन च भवति । प्रेम च निरुपधि सर्वातिशायि ज्ञानानभिभूतं भगवत आत्मत्वनिश्चयस्फूर्त्तिभ्यां भवति । तदर्थं श्रुतिषु नानाप्रकारैः सृष्टिभेदैर्विविधं माहात्म्यं निरूप्यते आत्मत्वं चोपदिश्यते । आत्मत्वञ्च सर्वात्मत्वं परमात्मत्वमिति यावत् । आत्मनामप्यात्मा हि सर्वात्मा परमात्मा च । "तस्माद्भरत सर्वात्मे" त्यत्र श्रीमत्सुबोधिन्यामेतदुपपादितम् । परमश्चाऽऽत्मा च परमात्मा । आत्मनामपि स्वरूपसमर्पकत्वादात्मत्वाच्चेति । राजमन्त्रिणि राजत्वबुद्धिरिव जीवात्मन्यात्मत्वमतिरपि दृष्टान्तार्था तद्गुणसारत्वानुरोधिनी तन्मूलतातदनुप्राणिततात्यतदनुमहांशलेशमूला न परमेत्यन्यत्र विस्तरः । वस्तुत आत्मत्वादन्येषां तस्यौपचारिकत्वात्परं श्रुतौ प्राधान्येन व्यपदेशाय केवलोल्लेखः । मतान्तरोत्थाने बुद्धिमान्द्ये चाऽपि भ्रमो मा भूदिति श्रीभागवते सर्वात्मपदेन तन्निष्कर्षो विवृतः । तथा च परमात्मन एव मुख्यात्मत्वात्तत्राऽऽत्मत्वमहिम्ना प्रेम्णस्तादृशस्य समुदयः स्वाभाविक इत्यात्मत्वमुपदिशत्युपनिषत् । सति प्रेम्णि सेवा नाऽन्तरीयकीति पारोक्ष्याय च परं तां क्वचिन्नोद्दिशति । सेवायामपराधाद्यभावाय पदार्थसाधारण्यबुद्ध्यभावायाऽवज्ञादिदोषानुदयाय सर्वात्मत्ववत्सर्वेश्वरत्वबुद्धये च माहात्म्यं तस्य निरङ्कुशं वर्णयति नानासृष्टिप्रभेदैः। एवं सति माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहपूर्वकभगवत्सेवया प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकां भगवदासक्तिं सम्पादयितुं तत्साधनेषु गुरूपसत्त्यादिषु प्रयतितव्यं परमपुरुषार्थप्रेप्सावता पुरुषेणेति व्यवस्थितः शास्त्रार्थः । तत एव "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति साधनान्युपदिश्यन्ते । आवृत्तिश्च यावज्जीवं तेषामादिश्यते । "आवृत्तिरसकृदुपदेशादि" ति । तत्र श्रोतव्य इति श्रवणकीर्तनस्मरणादीनां नवविधानां भक्तीनामुपलक्षणार्थम् । मनननिदिध्यासनयोरङ्गत्वम् । मनननिदिध्यासनाभ्यामुपकृतं श्रवणं रुचिपदापरपर्यायं प्रेमा-

ङ्कुरं प्ररोहयति । तन्महिम्ना कीर्त्तनस्मरणादीनि स्वतः सम्भवन्तीति श्रवणस्यैव मुख्यत्वात्कण्ठरवेणोपादानम् । अन्येषामुपलक्षणविधया । तदुपबृंहितम्—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तममि"ति । एवञ्च श्रवणेन प्रेमाऽङ्कुरितं कीर्त्तनादिभिः परिपुष्यमाणं परिपाकावस्थायां प्रपञ्चासक्तिरहितभगवदासक्तिरूपं भवद्व्यसनरूपतां धत्ते । सस्युदृढं सर्वतोऽधिकं प्रेम । तत्त्वाभाव्यात्स्यव्यसनतः क्रियमाणं श्रवणादित्रयं पादसेवनादिषट्कं चेति नवकं प्रेमलक्षणा फलात्मिका सेवा । सोपाज्यां पुरुषार्थपरमार्थविदा । "तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध" इत्यादिवचनात् । "कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मते"ति श्रीमदाचार्यचरणवचनामृताच । अत्रैतदवधेयम् । "तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयमि"तीत्यत्र श्रीसुबोधिन्याम् "आत्मा वा अरे श्रोतव्य" इत्याद्यानां श्रुतीनामेतच्छ्लोकदर्शित एवाऽर्थो नाऽन्य इत्युपपादितम् । तत्राऽऽत्मपदस्य सर्वात्मा हरिरीश्वर इत्यर्थः । श्रोतव्य इत्यस्य श्रवणकीर्तनस्मरणानीत्यर्थः । "त्रयाणामन्योन्यनिर्वाहकत्वेन विधानमि"ति व्युत्पादनात् । कुतस्त्रयस्यैव विधानं न नवविधाया भक्तेरित्याशङ्कायां त्रयोक्त्यैव शेषसङ्ग्रहोऽनुक्तसिद्धो दर्शित इति श्रुतौ श्रोतव्य इत्येतदेकं पदं तस्माद्भारतेत्युपबृंहणोक्तत्रयस्य च श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोरित्युपबृंहणोक्तशेषषट्कस्य चोपलक्षणतया सङ्ग्राहकमिति ज्ञापितम् । "फलन्तु प्रत्येकमेवे"ति फक्किकया मनननिदिध्यासनाभ्यामुपकृतेन श्रवणेनैवाऽवश्यम्भावात्प्रेमाङ्कुरस्य तदुत्तरजातकीर्त्तनस्मरणयोस्तन्नान्तरीयकत्वमपि न दुर्वचमिति प्रदर्शितम् । तेन न कश्चिद्विरोधगन्ध इति दिक् । श्रीसुबोधिन्यां त्रयस्य प्रेमजनकत्वं प्रत्येकमुक्तम् । तच्च पादसेवनादिषट्कप्रवृत्तिजननोपक्षीणम् । प्रेमलक्षणा व्यसनात्मिका फलरूपा स्वतश्च मानसी सेवा तु नवविधायाः फलात्मकतया गुरूपदेशानुसारेण कृताया एव पुष्टिमार्गीयायाः फलम् । तदिदमखिलं भगवदनुग्रहमात्रप्ररोहणीयं न प्रमाणबलादिना स्वसामर्थ्यादिना च । तथा च श्रूयते—"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया

हरिः ओम् ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वामि"ति । श्रुतार्थापत्त्या श्रुतानां साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकतया शास्त्रेषु प्रदर्शितानां साधनविशेषाणामनुग्रहोत्तरसम्भवत्त्वात्तदङ्गीकारोऽन्येषां प्रतिषेधनीयत्वाद्वरणस्याऽसहायशूरत्वात्स्वतन्त्रताऽस्तोऽपि प्रेमलक्षणादानमवतारकालिकानामिवेति नाऽसमञ्जसं किंचित् । एतस्याऽर्थस्य सपरिकरस्य प्रतिपादनाय वेदानां वैदिकानां च परिकरः । तत्र तत्फलप्राप्तिपरम्पराप्रवाहप्रवृत्तये तमिमंमर्थं सपरिकरमुपदेक्ष्यन्तीशावास्योपनिषत्तत्राऽऽवश्यकत्वाद्गुरुशिष्यपरम्पराप्रवृत्तिं च प्रेप्सन्ती तदुभयसंवादेनोपक्रमते ब्रह्मविद्याम् । अत्राऽऽद्यावन्ते च ब्रह्मविद्यायाः पूर्णप्रचारसिद्धये प्रत्यूहव्यूहप्रशमामिकामया श्रीमत्पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपणलक्षणां शान्तिं केचित्पठन्ति—'ओं पूर्णमदः पूर्णमिदमित्यादि । अत्रेशावास्योक्तोऽर्थो वस्तुतस्तु सकलोऽपि वेदार्थः सङ्कलय्य निर्दिश्यते । ओमिति ब्रह्मनिर्देशो मङ्गलार्थः । "तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनामि"ति श्रीमद्भगवद्गीतावाक्याद्ब्रह्मविद्याप्रवर्त्तनार्थश्च । स्मरंति च "ब्रह्मणः प्रणवं कुर्य्यादादावन्ते च सर्वदा । स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यत" इति । स्रवति पूर्त्तिं न गच्छति । विशीर्य्यते नश्यति । फलं न जनयति । नापि स्थिरीभवति । अदः क्षराक्षरातीतं परोक्षमव्यवहार्य्यं भगवत्स्वरूपं पूर्णं आकाशवद् व्याप्तं निरन्तरं निरुपाधिकं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहं पूर्णषडैश्वर्य्यपूर्णं विविधया परया स्वाभाविक्या शक्त्या ज्ञानबलक्रियया च परमया जीवकृतिनिरपेक्षया स्वाभाविक्या कृपया च पूर्णं पूर्णानन्दं पूर्णकामं स्वानन्दतुन्दिलं नित्यलीलाविशिष्टं किम्बहुना वेदतदनुकूलनिखिलशास्त्रोक्तिजेगीयमानयावन्महिमपूर्णं सर्वानुपपत्तिभिरपरिस्पृष्टमसम्भवदवद्यगन्धसम्बन्धम् । अस्ति । इदं नामरूपाभ्यां व्यवहार्य्यं प्रपञ्चाविर्भूतमवताररूपञ्च पूर्णं पूर्वोक्तरूपमेव । द्युभ्वाद्यायतनत्वादेर्मृत्स्नाभक्षणोलूखलबन्धादौ दृष्टत्वात् । एवं व्यवहार्य्याव्यवहार्य्ययोः पूर्णत्वमुक्त्वा कार्यस्वरूपेऽपि

तथात्वमाह—**पूर्णात्पूर्णमुदच्यत इति** । पूर्णात्तादृशात्कारणात्मनः परिणमतोऽपि विकारशून्यान्निरुपाधिकात् सकाशात् क्षराक्षरात्मकं कार्य्यरूपं पूर्णमुद् पूर्णानन्दं सत् अच्यते । पूर्णं सत् उदच्यते वा । अञ्चु गतिपूजनयोः । अच इत्येक इति पाणिनिः । पूज्यते । उद्गच्छति वा । लीलार्थमाविर्भावितत्वात् । तदनन्यत्वात् । ब्रह्मविदां तत्साक्षात्काराच्च । तथा च श्रुत्यन्तरे—मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति । "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तादि"त्यादि चेति । सूत्रितं च भगवता श्रीमद्बादरायणाचार्य्येण—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति । "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"त्यादि च । तेनाऽविद्वत्प्रतीतिरप्रामाणिकीति ध्वनितम् । एवं स्थितिदशायां कार्य्यस्य ब्रह्मरूपतामुक्त्वा प्रलयदशायां तथात्वमाह—**पूर्णस्य पूर्णमादायेत्यादिना** । पूर्णस्य अव्यवहार्य्यस्वरूपे व्यवहार्य्यस्वरूपे कार्य्यरूपेऽपि च यथाव्याख्यातपूर्णतापूर्णस्य । पूर्णं । स्वभावमिति शेषः । सदैकरसत्वलक्षणमिति भावः । आदाय । कारणेच्छया स्थितं व्यवहार्य्यत्वं तिरोधाप्य तदिच्छयैवाऽव्यवहार्य्यत्वाधिगमेन प्राप्येत्यर्थः । अपरित्यज्येत्यर्थो वा । ऐच्छिकपरिच्छिन्नतानानात्वयोः प्रातीतिकषड्भावविकारस्य च परित्यागेनाऽपरिच्छेदैकत्वे लब्ध्वेत्यर्थो वा । पूर्णमेव कारणात्मकब्रह्मस्वरूपमेवाऽशेषसंज्ञं सत् । अवशिष्यते । व्यवहार्यतां त्यक्त्वाऽव्यवहार्य्यब्रह्मरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । न तु विलीयते प्रपञ्चः । संसारवत् । प्रपञ्चस्य "पूर्णात्पूर्णमुदच्यत" इति ब्रह्मात्मकतायाः श्रवणात् । संसारस्याऽऽविद्यकत्वात् । "यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मन" इति वाक्यात् । प्रपञ्चसंसारयोः सर्वथैव भेदो नाऽभेद इत्याकरेषु विस्तृतमिति ततोऽवधेयम् । एवं पूर्णे भगवत्स्वरूपे कथितेऽनुसन्धीयमानेऽवधारिते समुच्चार्य्यमाणे चैव प्रत्यूहव्यूहोपरमद्वारा पूर्णब्रह्मविद्योदयेन पूर्णपुरुषोत्तमसेवानन्दलाभेन च जीवस्य पूर्णा संसारशान्तिर्नोऽन्यथेत्यभिप्रायेण त्रिवारं शान्तिमाह—**ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः** । सर्वथार्था पूर्णतमत्वार्था च त्रिरुक्तिः । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् बिभेति कुतश्चन । रसꣳह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"ति श्रुतिभ्यः । एवं शान्तिं पठित्वोपनिषदमारभते । तत्र

ईशाऽऽवास्यमिदं॰ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

गुरुः शिष्यायोपदिशतीति श्रुतिराह—ईशावास्यमित्यादिना । ईश ऐश्वर्ये । ईष्टे इतीट् । तेन । ईशा । परमेश्वरेण पूर्णपुरुषोत्तमेन भगवता श्रीकृष्णेन परब्रह्मणा परमात्मना । स एव हीशः । अन्येषामीशितव्यत्वात् । न हि परमेश्वराच्च क्षराक्षरातीतात्पूर्णपुरुषोत्तमाच्च समग्रैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यविराजमानाच्च सदानन्दाच्च जगज्जन्मादिकारणाच्चाऽखिलात्मनामप्यात्मनश्चाऽतिरिक्तानामपरेषामीशता वास्तवी वा सम्भवति वा । उपचारः परमविप्रतिपिद्धः । ऐश्वर्यं सामर्थ्यम् । तेन न कालकर्मस्वभावाधीनः सृजति । नाऽन्यप्रेरितः कारुवत् । न सहायशूरो न चोपकरणापेक्षी । नापि च जीवकृतसाधनसामर्थ्यनियन्त्रितः । किन्तु स्वतन्त्रः स्वेच्छया सङ्कल्पमात्रेण स्वरूपेण अभिन्ननिमित्तोपादानो विनोदमात्रप्रयोजनः परिणामेऽप्यविकृतः प्रमाणप्रमेयोभयमार्गमतिष्ठापको निर्लेपः । किञ्च । श्रीमद्भागवतेऽष्टमस्य प्रथमे "आत्माऽऽवास्यमिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमि"त्यत्रेशपदमात्मपदेन व्याख्यातम् । आत्मनो व्यतिरिक्तस्येशत्वानौचित्येन तन्मात्रस्यैवेशत्वात् । अनात्मनो नित्येशितव्यत्वात् । "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती"ति श्रुत्यन्तराच्च । स हीदं सर्वमावासयन्नाऽऽवासितस्य प्रेष्ठतमो भवति । परमनिःश्रेयसरूपश्च । "श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थत" इति वाक्यात् । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इति "आत्मलाभान्न परं विद्यत" इति च श्रुतिभ्याम् । जीवस्य तदेतस्य प्रेष्ठतमत्वं परमनिःश्रेयसरूपत्वञ्च तदेकस्वभावाद्भवति न साधनसामर्थ्यात् । तत एव हि श्रूयते— "नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि"ति । एवञ्च निर्हेतुकेन परमानुग्रहेण सृष्टानां श्रेयःप्रेयोरूपस्वस्वरूपात्मकफलदानेन परमपुरुषार्थसाधनायैव भक्तिमार्गं स्वतन्त्रं प्रवर्त्तयन्नखिलं सृष्ट्वा क्रीडति । तेन स्वतन्त्रभक्तिमार्गलाभ एव परमपुरुषार्थसिद्धिर्नाऽन्यथा केवलेन प्रमाणमार्गेणेति तल्लाभार्थं तत्सृष्टिस्थैरवश्यमेव प्रयतितव्यमित्युक्तम् । दासभावेनेशपदोच्चारणाद्भगवत्युत्कर्षबुद्धिः स्वस्मिन्-

पकर्षबुद्धिश्च दर्शितेति तदुपलक्षितः शीर्षावनामाञ्जलिबन्धरूपः महीभायाख्यः कायिकव्यापारविशेषोऽपि व्यञ्जितः। तथा सत्यशक्यनमनातिरिक्तकर्तव्यान्तरेण स्वयमनुग्रहशीलेन सृष्टानां परमपुरुषार्थसाधनप्रेप्सया भक्तिमार्गप्रवर्त्तकेन स्वतन्त्रेणाऽभिन्ननिमित्तोपादानेन परिणामेऽप्यविकृतेन प्रमाणप्रमेयोभयमार्गप्रतिष्ठापकेन निर्लेपेण परमेश्वरेण पूर्णपुरुषोत्तमेन भगवता श्रीकृष्णेन परब्रह्मणा परमात्मना स्वेच्छया सङ्कल्पमात्रेण स्वरूपेण विनोदमात्रमुख्यप्रयोजनायेतीशेति पदतात्पर्यम्। इदं सर्वं। सचराचरं दृष्टं श्रुतं मूतं भवद्भविष्यच्च। विश्वमिति शेषः। आवास्यम्। आङ्पूर्वकस्य ण्यन्तस्य वसेर्यति रूपमावास्यम्। आङभिव्याप्तौ। "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यथा यदा। स्यादिदं भगवान् साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वर" इति वाक्यात्। "कार्यादिभावः कश्चिदन्य इत्याद्युक्त्वा ब्रह्मस्वरूपमाह—यत्र येनेति। सर्वविभक्तीनां प्रकारस्य च भगवानेवाऽर्थः। प्रकृतिपुरुषौ कालश्च स एवे"ति तत्त्वार्थदीपस्य शास्त्रार्थे श्रीमदाचार्यचरणैर्व्याख्यानाच्च। उत्पाद्यं स्थाप्यमुत्साद्यञ्चेत्यर्थः। उत्पत्तिपूर्वको हि वासः। नाऽनुत्पन्नो वसतीति। उत्पन्नोऽपि नोत्पादयितुरनुग्रहमन्तरेण वसतीत्युत्साद्यञ्च। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"ति श्रुत्यन्तरात्। तदेकाधीनोत्पत्तिस्थितिसंहृतिकमिति यावत्। एवञ्च तदेकस्वामिकं तदेकभोग्यञ्चेति तदीयमिदं विश्वं नाऽस्मदीयम्। लीलार्थमाविर्भावितत्वात्। "स एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छद्"ति श्रुतेः। "क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूम्न"इति स्मृतेः। "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"ति सूत्राच्च। ईशो ह्यखिलस्य स्वामी भवति। स स्वस्यैवार्थमेवेदमखिलमस्मदादींश्चोत्पादितवानुज्जीवितवांश्च। तत्राऽस्मदादीनां स्वाम्यस्याऽहन्ताममतयोर्नैवाऽवसरः। "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियः पर ईश कुर्युरि"ति वाक्यात्। किन्तु सपरिकर आत्मैव स्वामिने निवेदनीयः। तत्स्वाम्यञ्च सर्वदैव चिन्तनीयम्। "त्वमेव शरणं ममे"ति। "कृष्ण तवाऽस्मि न चास्मि परस्ये"ति। तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः—"चिन्ता काऽपि न कार्या निवेदितात्मभिः कदाऽपीति। भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीञ्च गतिम्। निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः। सर्वेश्व-

रश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यती"त्युपक्रम्य "अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् । चित्तोद्वेगं विधायाऽपि हरिर्यद्यत्करिष्यति । तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् । तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम । वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिरि"ति । नन्वेवं भगवदेकस्वामिकं भगवदेकभोग्यञ्चाऽखिलं विश्वं न स्वोपयोगार्हं कथं तर्हि वर्त्तितव्यमित्याकाङ्क्षायामाह–यत्किञ्चेत्यादि । स्वस्वामिसम्बन्धालिङ्गितं शास्त्रोपदेशं विना भगवद्भोग्यतयाऽनभिमतं स्वभोग्यतयैव सिद्धं गृह्यमाणञ्च जगत्यां प्राणिनामुपभोगं गच्छन्त्यां पृथिव्यां जगत् जीवनार्थमवश्योपभोग्यतां गच्छत् वस्तुजातम् । जगतीतलवर्त्तिनामहरहर्भोजनादिभोगं विना सर्वथैवाऽशक्यजीवितव्यानामपरिहार्य्यस्वस्वामिसम्बन्धमनिवार्य्योपभोगञ्च यत्किञ्च विशेषतो नाम्ना निर्देष्टुमशक्यमानन्त्याद्वस्तुजातं यदस्तीति यावत् । तेन तादृशेन अहन्ताममतास्पदेन वस्तुजातेन आत्मना परिकरेण च । त्यक्तेन भगवतेऽर्पितेन निवेदितेन । भगवता च महाप्रसादतया दत्तेन । भुञ्जीथा भोगं सम्पादयेथाः । अयमाशयः । स्वरूपतः प्रयोजनत उत्पत्त्योपपत्त्या च सर्वमिदं भगवदीयम् । अविद्यावशादेव स्वकीयतयाऽभिमानविषयीकृतम् । तदिदं तस्यैव । न मम । दासोऽहम् । सेवकोऽहम् । स्वसेवार्थमेव भगवता मह्यं दत्तमिदं मदीयम् । मयैतेन भगवत्सेवैव विधेया । न मम भोगार्थमिदं मदीयम् । नैतेन स्वभोगः सम्पादनीय इत्यहर्निशमनुसन्धाय भक्तिसमुल्लासविल्लासपुरस्सरं ससमधिकोत्साहं सदैन्यातिशयमङ्गीकर्तुं साभ्यर्थनासहस्रञ्च पूर्वं भक्तिमता भगवते सर्ववस्तूनां निवेदनं विधेयम् । पश्चाद्भगवता भक्तार्थं महाप्रसादतया समुत्सृष्टेनाऽन्नवस्त्रस्रग्गन्धालङ्कारादिना निर्वाहः कर्त्तव्य इति । तदुक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु–"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् । अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाऽतश्च्यवन्ति ते । यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः" इति । श्रीमद्भागवते–"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना

वाऽनुस्यूतत्वभावात्। करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्। तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः। पादुर्गिकं जिघति पङ्कुणेशः। इष्टं दत्तं व्रतं जप्तं वृत्तं यच्चाऽऽत्मनः प्रियम्। दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्। प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च। मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्। रसनां तदर्पिते। त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते। मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः। लभते सुदृढां भक्तिं मय्युद्धव सनातने। यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते। सर्वलाभोपहरणं दास्येनाऽऽत्मनिवेदनम्। त्वयोपभुक्तस्रगन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि। दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकञ्च। विनाऽच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः" इति। श्रीमन्महाभारते—"कृष्णस्य हि कृते सर्वं जगदेतच्चराचरम्। एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः। त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः" इति। महोपनिषदि—"एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा न द्यावापृथिवी सर्वे देवाः सर्वे पितरः सर्वे मनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ति विष्णुनाऽऽघ्रातं जिघ्रन्ति विष्णुना पीतं पिबन्ति विष्णुना रसितं रसयन्ति तस्माद्विद्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुरि"ति। पाद्मे—"विष्णोर्निवेदितं चाऽन्नं योऽश्नाति भुवि मानवः। स याति परमं स्थानं पुनरावृत्तिवर्जितमि"ति। गारुडे—"नैवेद्यं तुलसीमिश्रं घण्टाद्यैर्जयनिःस्वनैः। नीराजनैश्च हरये दद्यादापोशनं ततः" इति। ब्रह्माण्डे—"पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नं पानीयमौषधम्। अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्" इति। कौर्मे—"अनर्पयित्वा गोविन्दे यैर्भुक्तं धर्मवर्जितम्। शुनो विष्ठासमं चाऽन्नं नीरञ्च सुरया सममि"ति। पाद्मे—"भक्त्या लोभात्कौतुकाद्वा क्षुधासंशमनेऽपि वा। आकण्ठं भक्षितं यद्वै पुनाति सकलादघात्। ममाऽन्नं निक्षिपेद्यस्तु मम निन्दां करोति यः। मद्दर्शनेन यत्पुण्यं तत्सर्वं तस्य नश्यति। विष्णोर्निवेदितान्नं यो नाऽश्नाति स्पर्श-

शङ्कया । वायसो विड्वराहश्च विष्ठायां जायते कृमिरि"ति । परमेष्ठिसंहितायाम्–"सन्त्यज्य विष्णुनैवेद्यं यः कुर्यादन्नभक्षणम् । स याति नरकं घोरं यावच्चन्द्रदिवाकरावि"ति । स्कान्दे–"तीर्थैः पवित्रितो वापि तपस्वी वा जितेन्द्रियः । नारायणस्य नैवेद्यमभुक्त्वा पतितः क्षणादि"ति । वाराहे–"मदन्नत्याजिनं मूढं तथा मद्भक्तदूषकम् । कल्पकोटिशतेनाऽपि न क्षमामि कदाचने"ति । श्रुतयश्च–"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अन्नं न परिचक्षीत । अन्नं न निन्द्यादि"ति । अन्नं भगवन्निवेदितमेव । तस्यैव मत्याख्यानादौ दोषसरणानामुदाहृतत्वात् । नैवेद्यातिरिक्तस्य निषेधे सति तत्स्वीकारस्य वैधत्वाच्चेति । तथा च भगवदीयं वैभवं भगवते निवेदनीयमेव । भगवदर्पितान्नादिनैव देहादिनिर्वाहोऽपि सेवकेन विधेयः । सोऽपि भगवत्सेवार्थमेवेत्यनुक्तसिद्धम् । नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तं तद्भोगो विधेयः । तदुक्तम्–"कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः । अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया तत्सम्मतानामपरिग्रहेण चे"त्यादिवाक्येभ्यः । तदनिवेद्य तदुपयोगे त्वीशातिक्रमदोषाः स्वधर्मातिक्रमदोषाश्च दर्शिताः । अनिवेदितोपयोगे दोषातिशयं भयातिशयमदर्शनद्वारा कैमुतिकेनाऽऽह–**मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति**। साधारणस्याऽपि धनेऽभिकाङ्क्षिते परुषातिपरुषा राजादिकृता दण्डाः मत्यक्षतो दृष्टाः । शास्त्रतश्चाऽवगम्यन्ते । तत्र भगवदीयस्य धनादिवस्तुनोऽनिवेदने स्वकीयत्वाभिमानेऽनिवेद्यैव चोपयोगे दण्डानां काष्ठा का वाच्याऽपराधानाञ्च काष्ठाऽपरिगणनीयैव । अक्षम्यता च तेषामसाधारण्येव । तेन मुमुक्षुणा केनाऽपि कस्याऽपि धनं नाऽभिकाङ्क्षणीयं सर्वथैव त्वीशस्येति सर्वथैव निवेदनावश्यकतां विदधाना श्रुतिस्तदर्थं निषेधार्थवादमाह–**मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति**। अनिवेदितं सर्वथैवाऽनुपयोज्यमिति । अन्यदीयस्य धनस्याऽभिकाङ्क्षायामपि कठोरा राजकृता दण्डाः मत्यक्षाः । शास्त्रदण्डाश्च श्रूयन्ते । तदीशस्य स्वकीयं वस्त्वनिवेद्योपयुज्यमानं कियन्तमपराधमादध्यादिति सर्वथैव ततो भेतव्यमनिवेदितोपयोगः कदापि सर्वथाऽपि न कार्य्य इति । यस्मात्परस्वामिकाङ्क्षणं भयावहं तस्माद्भगवदीयं वस्तु भगवते निवेद्यैवोपयोज्यमिति । धनमिति मलोभकवस्तुमात्रोपलक्षकम् । अमलोभके वस्तु-

**कुर्व्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳯ समाः ।
एवं त्वयि नाऽन्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥**

न्यभिकाङ्क्षाया अनुदयादेव तदनुक्तिः । सर्वस्याऽपि जगतो भगवदीयत्वेनाऽन्यदीयस्याऽपि भगवते स्वेनाऽर्पणे प्रसक्तेऽर्पणोत्तरं तदुपभोगे च प्रसक्ते तन्निषेधार्थमनिवेदितोपयोगनिषेधार्थञ्च तन्त्रेण श्लिष्टोक्तिः ॥ १ ॥

भगवत्सेवार्थमेव निवेदितेन देहादिनिर्वाहं कण्ठरवेणाऽप्याह—तदावश्यकताञ्चाऽऽह—कुर्व्वन्नेवेहेत्यादिना । इह ईशावास्ये । यो यत्र निवसति तेन तदावास्यं भवति । यथा राजधानी राज्ञाऽऽवास्या भवति । उत्पाद्य स्थापयित्वा च राजा तत्र निवसति । तथैवाऽत्रेशो निवसति । क्रीडाभाण्डत्वाद्विश्वस्य । उक्तञ्च तत्त्वार्थदीपस्य व्याख्यार्थे—"यः सर्वत्रैव सन्तिष्ठन्नन्तरः संस्पृशोत्र तत् । शरीरं तं न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते" इति । श्रुतयश्च—"तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत् । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । तमेव भान्तमनुभाति सर्वमि"त्यादि । "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादि । मुख्यानां स्वतन्त्रभक्तिमार्गस्थापनेन परमपुरुषार्थसाधनाच्च । तदर्थं तदा तदाऽवतारकरणेनाऽपि निवासाच्च । एवमिदं विश्वमीशावास्यम् । तत्र तेन ये सेवका यत्र कर्मसु नियुक्तास्तत्र तैस्तैरैरेव भवद्भिः स सेवितव्यः प्रेमातिरेकं दधद्भिः प्रसादं स्पृहयद्भिः प्रमादे भयं सम्भावयद्भिश्च । तस्मात्कुर्व्वन्नेव कर्माणि जिजीविषेत् । तदिदमुक्तम्—"स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः । य एक ईशो जगदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते । यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल । धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे । अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् । यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाऽञ्चति । अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः । पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितस्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजा"इति । "तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हण" इति । "आनर्त्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान् । दध्मौ

दरवरं तेषां विषादं शमयन्निवे"ति । "तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावह-मि"ति । प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः । तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवाऽऽदृताः । आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा । प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा । पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवाऽर्भकाः । न ताः स्म ते नाथ सदाऽङ्घ्रिपङ्कजं विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् । परायणं क्षेममिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत्परप्रभुः । भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माताऽथ सुहृत्पतिः पिता । त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं तवाऽनुवृत्त्या कृतिनो बभूविम । अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् । प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगमि"ति च । कर्माणि भक्तिमार्गीयमर्यादाबोधितानि स्वतन्त्रेतिकर्त्तव्यताकानि साक्षात्सेवारूपाणि च सर्वाणि स्वतन्त्रभक्तिप्रयुक्तानि स्वतः पुरुषार्थरूपाणि । तदुक्तम्—"शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते । आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभिसमावृत्य शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते । कृत्स्नमावायु गृहिणोपसंहारः । यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् । क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणम् । कर्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवे"ति । कुर्वन् न कारयन्न चक्रिवान् न करिष्यन् न चिकीर्षन् किन्तु कुर्वन् । परस्मैपदप्रयोगात्स्वामिपरितोषादेव निष्पत्तिमात्रेण वा परितुष्यन् न फलान्तरमिच्छन् । कर्माणीति बहुवचनात्कुर्वन्निति वर्त्तमानव्यपदेशाच्च नित्याभियोगः सततयोगश्च सेवायामपेक्षित इति सूचितम् । "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवे"त्युक्तः सततयोगः । "अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ।

स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः । यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि । अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्नानपुरस्सरम् । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्ताना''मित्यादावुक्तो नित्याभियोगः । प्रेमातिप्रकर्षश्च परमादरश्च ततोऽन्यत्राऽनिर्वृतिश्चाऽरतिश्चाऽनभिरुचिश्च दर्शिताः । प्रयतात्मता च निश्छिद्रता च । आलस्यं रसानधिगमश्चाऽवसरातिक्रमश्च सापेक्षता च व्यावर्त्तिताः । तदिदं व्यक्तम्–"दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् । आदरः परिचर्य्यायाम् । विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय । तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण । क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः । ता नाऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे । इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्तो रममाणाश्च नाऽविन्दन् भववेदनाम् । शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु । न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः । गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत् । पत्रं पुष्पं फलं तोयमित्युपक्रम्य–प्रयतात्मनः । अच्छिद्रसेवनाश्चैव निष्कामत्वात्त्वयोग्यतः । द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैर्नाऽन्यथा तु कथञ्चन । नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् । यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नवं नवम् । पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् । तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले । यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिष''इत्यादिषु वचनान्तरेषु । कुर्व्वन्नेवेत्याग्रहस्तदर्चनार्थं तदर्पणार्थं तत्परितोषार्थं तत्प्रसादार्थं तत्सेवार्थं स्वधर्मार्थमपराधाभावार्थं स्वकृतार्थत्वार्थं स्वानन्दार्थं प्रेष्ठपरिचयार्थं सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं स्वतन्त्रपुरुषार्थतासिद्ध्यर्थञ्च सर्वथैवाऽऽवश्यकत्वात् । तथाहि । "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् । अर्चनं वन्दनं दास्यम् । यदर्हणं लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषम् । तत्कुरुष्व मदर्पणम् । नारायणायेति समर्पयेत्तत् । कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् । स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति । वासुदेवे भगवति

भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् । धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् । अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः । स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् । एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् । यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् । एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवाऽऽत्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे । यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् । ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् । कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् । गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्याऽनुस्मरन्ति च । मत्कर्मकृन्मत्परमः । मत्कर्मपरमो भव । कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् । कर्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवा । सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्याऽयमेव धर्मो हि नाऽन्यः क्वापि कदाचन । अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया । दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वर । अपराधसहस्राणां सहस्रमयुतं तथा । अर्बुदं चाऽप्यसङ्ख्येयं करुणाब्धे क्षमस्व मे । सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव । यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् । नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः । यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" इत्यादि । जिजीविषेत् । तथाच वचनान्तराणि । "स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स ह नाववतु स ह नौ भुनक्तु । दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । शतं शरद्भ्य आयुषे वर्चसे जीवात्वै पुण्याय । आयुष्मन्तं वर्चस्वन्तम् । शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः । जीवन्ति । आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ । तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्त्तया । आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ । बुद्धिश्चाऽऽयुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः । यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नाऽस्त्यधिकारिता" इति । शतं समाः । अपरिमितं कालं जिजीविषेत् । "पिबत भागवतं रसमालयमि"ति वचनात् । अपरिच्छेद्यस्याऽपरिमितस्याऽऽन-

न्दस्याऽनुभवेऽपरिमितोऽपि कालः स्वल्पतम एव प्रतीयते । "क्षणार्द्धवृत्ता" इत्युक्तेः । तादृशो हि रसस्वभावः । तथा चोक्तम् । "नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् । न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाऽङ्गमच्युतम् । तस्याऽऽननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् । नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्य्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च । दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेताः । पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैः । गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवदि"ति । अत्र क्षणं युगशतमिवेति प्रतिनिर्देशेन गोविन्ददर्शने युगशतमपि क्षणायत इति ज्ञाप्यते । "तत्राऽब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेदि"त्यत्राऽपि तथा । समानन्यायात् । जीवनं विना परमानन्दस्याऽननुभवो यतस्ततो जिजीविषेत् । स्नेहात्मिका ज्ञेया जिजीविषा सेवकस्य स्वधर्म इति विधिनियोगः । तदुल्लङ्घने चाऽधर्मः । "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति वचनात् । फलारूपकत्वं चाऽस्य ध्वनितम् । साधनात्मकत्वे फलपर्य्यन्तमिति विशेषोल्लेखोऽपेक्षितः । स त्विह न कृतः । तस्मात् । "सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः । कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् । तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथमि"ति कथनात् । कुर्वन्नेव जिजीविषेत् । अन्यथा तु—"मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः । स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः । धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन । प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः" इति । "अन्तर्गृहगताश्चाऽन्या गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः" इत्युपक्रम्य—"जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः" इति । "यस्य वा भगवत्कार्य्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते । तदा विनिग्रहस्तस्य कर्त्तव्य इति निश्चयः" इति च न्यायेन जिजीविषां परित्यजेदेव । कुर्वन्निति हेतौ शता । प्रयोजनमिह हेतुः । भगवत्सेवनाख्यप्रयोजनजनितामेव जीवनेच्छां विदध्यान्नेतरप्रयोजनामित्यर्थः । जीवनेच्छया हि भोजनादिव्यापारः । भगवत्सेवनाख्यप्रयोजनाभावे सति भोजनादिव्यापारमपि जीवनोपधायकं परित्यजेदेवेति भावः । असह्यशोकेनाऽभिभवात् । महानेव खल्वसौ क्लेशः शोकाभिभवो नाम । क्लिष्टश्च न जीवितुमर्हतीति । अनुत्पन्नस्नेहेषु स्नेहवत्कृतस्योपदे-

पामपि तत्रैव प्रवृत्तिं विरचयन्तस्तदर्थं शास्त्राण्यपि वेदवाह्यानि बहुधा प्रवर्त्तयन्तोऽसुरेभ्यो हिता भवन्तीत्यसुर्या इत्यधिक्षेपेण तत्स्वरूपोक्तिः । नामेति प्रसिद्धौ । प्रसिद्धास्ते । अलं तेषां भगवद्भक्तितद्भक्तद्वेषिणां वेदविरुद्धार्थवादिनां वेदार्थमन्यथयताञ्च नामोच्चारणश्रवणाभ्यामपि । तथापि प्रसिद्धाश्च इत्यर्थः । कलिनोपबृंहितत्वात्प्रसिद्धयर्थं प्रयत्नवत्त्वाद्बहुभिस्तादृशैरनुवर्त्तनान्नामतभेदेन बहुत्वाच्चेति भावः । त इति नाऽस्मदीयानां तैः कश्चन सम्बन्धः । येऽस्मान् द्विषन्ति यांश्च वयं द्विष्मस्तेषामलं वार्त्तयेति भावः । न च प्रह्लादीनां द्वेषाभाव एव युक्तो न द्वेष उपपद्यत इति शङ्क्यम् । द्वेषेण तदनिष्टाभिसन्धिराहित्येऽपि सत्सद्विवेकवत्त्वात्तत्सङ्गपरिहाराय तत्स्वरूपविज्ञानबोधनयोर्द्वेषत्वाविवक्षणात् । भगवद्द्वेषिषु द्वेषस्य शास्त्रविहितत्वेन गुणत्वाच्च । "छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः" इति वाक्यात् । "क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः" इति वाक्यात् । "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मते"ति तत्प्रसङ्गस्य सर्वथैव परिहर्त्तव्यत्वाच्चेति दिक् । लोका जनाः साधारणाः । प्राकृताः । लोक्यन्त इति लोकाः । इतस्ततो दुश्चेष्टितान्यातन्वाना लोक्यन्ते केवलम् । नाऽऽद्रियन्ते सद्भिः । नन्वलमौदासीन्येन तदुपेक्षया । तेऽनुकम्प्या भवादृशामिति चेदनुकम्प्या इति सत्यं यद्यज्ञाः स्युः । ते तु–अन्धेन तमसाऽऽवृताः । तमः अज्ञानम् । तच्च ज्ञानाकारं न ज्ञानाभावः । तेन ज्ञानाकारेण तमसा रूढाभिमानाः सर्वज्ञम्मन्याः कमन्यं धन्यं मन्यन्ते येन ज्ञानार्थमुपसर्पेयुः । अथ तथापि बोधिता विमृशेयुः स्वाज्ञानमवधारयेयुरिति चेन्न । अन्धेनेति । उपदेशादिभिरशाम्येन निबिडेन प्रगाढेन श्रुत्वा विमृशन्तोऽपि विशेषं प्रतिपत्तुमसमर्था एव भवन्ति । वादेषु च प्रत्युत्तरप्रतिपत्तिमूढमनसोऽपि स्वदुराग्रहं नोज्झन्ति । नन्वेवमपि विद्वावद्भिर्बोध्यमानाः शनैश्शनैस्तादृशात्तमसः प्रकाशमासादयेयुरिति चेन्न । आवृताः । यथा कालपाशावृतस्य चिकित्स्यमानस्याऽप्युत्तरोत्तरं रोग एवाऽभिवर्द्धते न स्वास्थ्यमेवमसुरा अपि बोध्यमाना उत्तरोत्तरमज्ञानेनैवाऽऽव्रियन्ते प्रगाढेन अनवस्थितदुस्तर्कादिरूपेण अनार्य्यतादिरूपेण च । प्रत्याशापराहता तेषां सत्पथप्रतिपत्तिरिति भावः । तेषामप्रतिपत्त्या न परमार्थस्य परमार्थविदश्च

काचिद्धानिरस्ति । परमार्थपथिकस्य च किञ्चित्प्रयोजनमस्ति । तस्माच्च उपेक्ष्या
एव । असम्भाष्याश्च । तैः संसर्गे स्वस्याऽपि बुद्धिभ्रंशादिना भगवत्सेवनादि-
प्रतिबन्धेन च नाशसम्भवात् । ननु कोऽयं नाशस्तत्राऽऽह–तांस्ते प्रेत्याऽभि-
गच्छन्तीति । तान् । शाश्वतिकनरकावाप्तिपर्य्यवसानाय पूर्वोक्तस्वरूपान-
सुर्य्यानेव लोकान् । ते । असुर्य्या भगवद्विमुखा आसुराः प्रदर्शितस्वरूपाः ।
प्रेत्य । तत्कालीनं देहं पापपूर्णं त्यक्त्वा । प्रेतत्वं प्राप्य च । अभि । अभितः ।
तत्समीपमित्यर्थः । "समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसनीडवत् । सदेशाभ्याश-
सविधसमर्य्यादसवेशवत् । उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययमि"ति
कोशात् । जन्माचारविचारसन्निकर्षदेशवेषरुचिसिद्धान्तविद्याबुद्धिसाधनफलैर्वा ।
अथवा । उभयतः । जन्मना मरणेन च । त्वरयेति वा । तेषां पुण्यलेशोऽपि
नास्ति यद्योगेन तत्प्राप्तौ विलम्बः स्यात् । साकल्येन वा । सर्वेऽपीति भावः ।
यदा जायन्ते तेष्वेव जायन्ते यदा म्रियन्ते तदापि तेष्वेवोत्पद्यन्तेऽधिकाधिक-
पापर्द्धिपरिपूर्त्त्यर्थम् । तादृशासुरजन्ममरणपरम्परा कदापि न निवर्त्तत इत्यर्थः ।
कालसाकल्येन वा । सकलकालमित्यर्थः । "समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमु-
खेऽभित" इति कोशात् । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति । आसुरत्वं प्राप्नुवन्तीति
भावत् । जन्ममरणचक्रेण वा शाश्वतिकनरकप्राप्त्याऽपि वा । उक्तं हि—
"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः । न शौचं नापि चाऽऽचारो
न सत्यं तेषु विद्यते । असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसम्भूतं
किमन्यत् कामहैतुकम् । एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभव-
न्त्युग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः । काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदा-
न्विताः । मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः । चिन्तामपरिमेयाञ्च
प्रलयान्तामुपाश्रिताः कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः । आशापाशशतै-
र्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसञ्चयान् ।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुन-
र्धनम् । असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चाऽपरानपि । ईश्वरोऽहमहं भोगी
सिद्धोऽहं बलवान् सुखी । आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः । अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजा-

लसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ । आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् । अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति श्रीमद्भगवद्गीतासु । "जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः । यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जन"इति श्रीमद्भागवते । "शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् । येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपी"त्यादिवचनजातं पाद्मोत्तरखण्डे । तच्च प्रागुदाहृतमुपोद्घाते । "एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता" इति ब्रह्मसूत्रं च । एवमासुरा जीवा आसुरजन्ममरणपरम्पराचक्रे निपतिताः पर्य्यवसाने शाश्वतिकनरकानपि प्राप्ता विनश्यन्तीत्युक्तम् । ये च ताननुसृतास्तेऽपि तेष्वेव जन्म लब्ध्वा तथैव विनश्यन्तीत्याह—ये के चाऽऽत्महनो जना इति । च । पुनः । ये के । ज्ञाताज्ञाता उत्कृष्टापकृष्टाः पण्डिता वा मूर्खा वा देवा मनुष्या असुरा वा वैदिकम्मन्या अवैदिकाश्च । आत्महनः । तदनुसरणादिना अविद्यालस्यादिना वा तानेवाऽनुसृता भगवन्तमभजन्त आत्मपरमात्मनोर्जगत्परमात्मनोश्च स्वस्वामिसम्बन्धमविजानन्तस्तदनुरुध्याऽवर्त्तमानाश्चाऽसमर्पितमुपभुञ्जाना भगवत्सेवान्तदुपयोगीनि कर्माण्यकुर्वाणाः सन्नासात्संसारस्योद्विज्य वृथा वैराग्यादिनाऽप्रकृत्माकाङ्क्षन्तः स्वदेहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि भगवत्सेवनादावनुपयुञ्जानास्तत्सेवोपयोगितालोभेन तद्विधानहेतूननुरुन्धानाः प्रत्युत तद्वैयर्थ्यमयथार्थमशास्त्रीयमभक्तिमार्गीयमनाचारमाचरन्तः श्रुतिस्मृत्युक्तसदाचारयाथात्म्यमविदन्तः सर्वसुकं प्रद्विषन्तः प्रतिरुन्धानाश्चाऽऽत्महनः । प्रकरणात् । "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यस्याऽऽत्मा शरीरं यमात्मा न वेदे"ति श्रुत्या "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवाऽऽस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवाऽऽत्मानो व्युच्चरन्ती"ति श्रुत्या "अहमात्माऽऽत्मनां तात प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि । अतो मयि रतिं कुर्य्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः । हरिर्हि साक्षाद्भगवाञ्छरीरिणामात्मा झषाणामिव

तोयमीप्सितम् । कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिय" इत्यादि-प्रमाणशतैश्च श्रीकृष्णः सर्वेषामात्मनामात्मा । तत्सम्बन्धविहीन आत्माऽपि कुणपादतिरिच्यते । पुरुषार्थापेतत्वादपवित्रत्वादिभिश्च । "न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत । न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे । श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः । न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रज" इत्यादिवचनैः । "कुणपः प्रोच्यते बुधैरि"त्यादिभ्यश्च । देहेनाऽहतोऽपि स्वरूपेण हत एव । हतो हि नोज्जीवयितुं शक्यः । प्रथमतस्तिरोहितभगवद्धर्मा स्वरूपामच्युतश्चाऽन्यादृशोऽपि आसुरसङ्गेनेदानीं स्वधर्मं भगवत्सेवामुत्सृजन् हत एव । इतः परं गुरूपदेशसत्सङ्गश्रवणादीनामसम्पर्क एव यतः । तदर्थं चेष्टैव नास्ति । आसुरावेशात् । यो न चेष्टते स हतः । यश्च चेष्टते स चेष्टमान आत्मानमेव सेवतेऽनुभवति च तदानन्दम् । य आत्मा न चेष्टते चेष्टमानोऽपि स्वात्मानं श्रीकृष्णं न सेवते नाऽनुभवति च तदानन्दं स हतः । आत्मनि च हते देहतोऽपि हत एव । देहेन्द्रियादीनां भगवदर्थं चेष्टा न दृश्यत इति । तथा चोच्यते—"बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य । जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः । भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् । शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा । बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये । पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नाऽनुव्रजतो हरेर्यौ । जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु । श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् । तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः । न विक्रियेताऽथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः" इति । ये तु न हताः किन्तु जीवन्ति ते तु—"वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः । स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनामि"त्युक्तप्रकारेण तत्प्रार्थनया च भगवत्सेवार्थं चेष्टन्ते । उक्तञ्च—"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः । तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यादिति । तस्मात्त्सेवारहिता भगवद्विमुखा आत्महनः । तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्तीत्यनुषङ्गः । मोहमहाब्धावतिगम्भीरे तथा तले निमज्जन्ति यथा पुनर्नैवोद्गच्छन्ति । ताननु विनश्यन्त्येवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवमासुराँल्लोकानासुरमार्गं तत्स्वरूपं तदपराधानां काष्ठाभावं तेषां घोरतमं चेतसा विचारेऽपि भयवत्तरं फलञ्च तदनुवर्तिनाञ्च पातमतिवर्त्तिनं प्रतिपाद्य बुभूषोस्तैः सहाऽसंसर्ग एव सर्वथा वरम् । बुभूषुभिस्तत्प्रवृत्त्यप्रवृत्ती अचिन्तनीये एव प्रयोजकतया । किन्तु फलाफले सुगतिदुर्गती एव तथा चिन्तनीये प्रगल्भैः । तत्संसर्गोच्च सदा दूर एव भवितव्यम् । न तु मुग्धैर्भवितव्यम् । दुस्सङ्गविषस्याऽतितीव्रतया सर्वात्मना परिहर्त्तव्यत्वात् । किन्तु सत्सङ्गान्मुक्तदुस्सङ्गः स्वपुरुषार्थसाधन एव स्वार्थज्ञस्तत्परो भवेदन्यदननुयोग्यचिन्त्यमिति शास्त्रार्थो दर्शितः । इदानीं प्रकृतमनुसरन्ती प्राकृतादीशत्वादीशस्येशत्वं व्यवच्छिद्य प्रदर्शयन्ती भक्तरक्षादीक्षितत्वं तत्र सक्षणत्वं तदेकस्वभावत्वं भक्तरक्षायामनलसत्वमन्यदेवातिशायित्वं विचित्रशक्तिशालित्वेन माहात्म्यं तल्लीलात्वदमाकृतत्वं च तत्समर्थनार्थं कथयन्ती भक्तिभरमुद्रेचयन्ती सर्वथा सेवनीयतमत्वमाह—अनेजदित्यादिना । अनेजदकम्पमानमविचलत्सर्वसादित्यर्थः । अनागन्तुकानारोपितस्वरूपत्वात्सर्वस्येति । सर्वो हि पदार्थस्तत्स्वरूपेणाऽवतिष्ठते । न प्रातिस्विकेन रूपेण । "यथैकेन मृत्पिण्डेन सोम्य सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"त्यादिभिः श्रुतिभिः । बहिराविर्भावतिरोभावदर्शनेऽपि भगवति सर्वपदार्थानां सर्वदा स्वरूपानतिरिक्तत्वेन स्थिततया कार्यकारणोभयरूपेण सर्वदैव स्थितिरिति । "नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु । व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसञ्ज्ञ" इति वाक्यात् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् । तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । आत्मकृतेः परिणामात् । पटवच्चे"त्यादिभ्यः

श्रुतिसूत्रेभ्यश्च। परिणमदपि स्वरूपादप्रच्युतमेव परिणमते। सुवर्णादिवत्। अविकृतपरिणामवादस्वीकारात्। सत्कार्य्यवादाच्च। आविर्भावतिरोभावावेव केवलं भवतो न वस्त्वन्तरं किञ्चिदपि भवति। सर्वकारणभावादपि। समवाय्यसमवायि निमित्तं च स्वयमेवेति। "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति श्रुतेः। "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा। स्यादिदं भगवान् साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वर" इति श्रीमद्भागवताच्च। एतेन—"ईशाऽऽवास्यमिदं सर्वमि'त्यादिमग्राभिमतमुपष्टब्धमुपपादितञ्च। सर्वस्येशाक्रान्तत्वञ्च स्वरूपेण नियामकत्वेन च दर्शितम्। लीलेच्छातो लीलाभ्यश्च सर्वदैवाऽच्युतम्। "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं त" इति वाक्यात्। ईशेशितव्यो भूत्वैव रमत इतीशितव्यानामीशितव्यत्वं सेवकत्वापरपर्य्यायं तेन च स्वस्येशत्वं सेव्यत्वपर्य्यवसन्नं सर्वदैवाऽभिवाञ्छति। तथा सति स्वलीलानिर्वाहञ्च वाञ्छतीति ततोऽप्यनेजत्। तेनाऽवश्यं सेवकेन स्वधर्मोऽनुष्ठातव्यो न ममदितव्यमित्युक्तम्। तल्लीला चाऽनुभवितव्याऽऽनन्दरूपा। लीला ह्यानन्दरूपा भवति। स्वानन्दानुभवादन्येभ्य आनन्ददानाच्च। तेनाऽनेजदित्यानन्दैकरसमित्यर्थः। स्वयमानन्दः परमानन्दमन्येभ्यो वर्षति नाऽन्यत्करुते तादृशस्वभावमिति यावत्। सर्वदैकरसा तत्प्रीतिः कदापि न विरसा भवतीति ध्वन्यते। अकम्पानुकम्पापीयूषपूरप्रपातपरम्परानुमासस्पृहणीयतमस्वरूपा च परिस्पन्दमानप्रसादसुधारसपरिस्यन्दसंसिक्तसर्वसेवकसमाजसमभिनन्द्यमानसमुदया च सेति। अन्येऽस्य भयात्कम्पन्ते। नाऽयमन्येभ्यः कम्पते। किन्तु सर्वानेवेशमानिनः स्ववशे स्थापयति। नियोजयति च कर्मकरानिव तत्र तत्र कार्य्येषु। तदनेजत्। "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः। भीषाऽस्मादिन्द्रश्चाऽग्निश्च मृत्युर्धावति पञ्चम" इति श्रुतेः। "मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युर्धावति पञ्चम" इति स्मृतेश्च। भक्तरक्षायामनेजत्। तत्परत्वात्। तदुक्तम्—"सप्ताहमदधाद्गिरिम्। सप्ताहं नाऽचलत्सदात्। उत्पाट्यैककरेण शैलमचलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभिद्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्। विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः। मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चाऽऽस्म हरेऽभिरक्षिताः। विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।

वृषमयात्मजाद्विश्वतोमयाद्‌षभ ते वयं रक्षिता मुहुरि"ति । अनेजदित्येकत्रा-ऽविचलत्वेन स्थितं दृषद्वत् कार्य्यान्तरमकुर्वाणमिति नाऽर्थः । किन्तु तेभ्य-स्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि कार्येभ्योऽप्यच्युतमेवाऽनेजत् । तेनाऽस्य सर्वशक्तिमत्त्वं स्वाभाविकमित्युक्तं भवति । नन्विदं तत्तत्कार्य्येभ्योऽप्यच्युतत्वं कार्य्याणामान-न्त्यादनेकत्वं विना न सम्भवति । पुरुषवत् । मैवमित्याह—एकमिति । तथा सत्यनीशत्वापत्तिरिति भावः । एकस्याऽनेकत्वमीशत्वादुपपद्यते । न त्वनीश-त्वायाऽनेकत्वं कल्प्यमसम्भवं मत्वा । ईशस्येदं प्रकरणम् । निरङ्कुशमीशत्व-मुपपादयितुमेव हि श्रुतिः प्रवृत्ता । ईशस्य किमप्यसाध्यं नास्त्येकत्वमनेक-त्वञ्च । कार्य्याणामानन्त्यमप्यच्युतत्वमेकत्वञ्च । किन्तु कार्य्यानन्त्याचत्तत्तो-ऽप्यच्युतत्वमनेकत्वं विना न सम्भवतीति कथनमयुक्तमित्यर्थः । निरङ्कुशमिद-मैश्वर्य्यं न लौकिकम् । नैतदव्याख्या व्याकुलमिति । "न तत्समश्चाऽप्यधिकश्च दृश्यत" इति श्रुतेः । नन्वेतादृशमनेजदन्यदपि भवेदित्यत्राऽऽह—एकमिति । समाभ्यधिकरहितमित्यर्थः । "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्य-प्रतिमप्रभाव" इति वचनात् । तदेकमेव समाश्रयणीयम् । नाऽन्यत्समाश्रय-णीयमिति भावः । नन्वेकः कथमनेकानि कार्य्याणि युगपत्कुर्य्यादित्यत्राऽऽह—मनसो जवीय इति । क्षणेनैव युगपदेव च सर्वं कर्तुं समर्थमित्यर्थः । मनो हि सङ्कल्पेन क्षणमात्रात्तत्र तत्र गच्छदनुभूयते । ब्रह्म तु ततोऽपि जवीयः । सङ्कल्पमात्रेण युगपच्च सर्वं निर्माति पाति गच्छति कार्य्याणि साधयति । न त्वेवं मनः । तथाच श्रुत्यन्तरम्—"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेये"ति । व्यापकत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिकमीशत्वस्यैवोपसर्जनीभूतमितीशत्वपुरस्कारेणैव स-माधानाभिधानमिति ज्ञेयम् । तेन सर्वभक्तसमुद्धारे त्वराशीलत्वं श्रमाभावश्च तस्य स्फुटीभवति । अनेजदिति सुलभत्वमुक्तम् । कृपावत्त्वञ्च । "भगवानथ वि-श्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः । समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः । प्रस्थाना-भिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः । पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सता-मि"त्येवं वर्णनात् । एकमिति समाश्रयणीयत्वाय रूपं गुणाश्च सदतिशयश्च । मनसो जवीय इत्यनेन मनःकरणात्प्रागेवाऽशेषमतिचिन्त्यनिर्वृत्तिं मनोभिलषिता-र्थसम्पादनञ्च करोतीति भक्तार्थसाधने त्वराऽनुकूलत्वञ्च । "मनसैवैतदास-

श्रुतिसूत्रेभ्यश्च । परिणमदपि स्वरूपादप्रच्युतमेव परिणमते । सुवर्णादिवत् । अविकृतपरिणामवादस्वीकारात् । सत्कार्य्यवादाच्च । आविर्भावतिरोभावावेव केवलं भवतो न वस्त्वन्तरं किञ्चिदपि भवति । सर्वकारणभावादपि । समवाय्यसमवायि निमित्तं च स्वयमेवेति । "तदात्मानꣳ स्वयमकुरुते"ति श्रुतेः । "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा । स्यादिदं भगवान् साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वर" इति श्रीमद्भागवताच्च । एतेन—"ईशाऽऽवास्यमिदं सर्वमि"त्यादिमन्त्राभिमतमुपष्टब्धमुपपादितञ्च । सर्वस्येशाक्रान्तत्वञ्च स्वरूपेण नियामकत्वेन च दर्शितम् । लीलेच्छातो लीलाभ्यश्च सर्वदैवाऽप्रच्युतम् । "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं त" इति वाक्यात् । ईशेशितव्यो भूत्वैव रमत इतीशितव्यानामीशितव्यत्वं सेवकत्वापरपर्य्यायं तेन च स्वस्येशत्वं सेव्यत्वपर्य्यवसन्नं सर्वदैवाऽभिवाञ्छति । तथा सति स्वलीलानिर्वाहञ्च वाञ्छतीति ततोऽप्यनेजत् । तेनाऽवश्यं सेवकेन स्वधर्मोऽनुष्ठातव्यो न प्रमदितव्यमित्युक्तम् । तल्लीला चाऽनुभवितव्याऽऽनन्दरूपा । लीला ह्यानन्दरूपा भवति । स्वानन्दानुभवादन्येभ्य आनन्ददानाच्च । तेनाऽनेजदित्यानन्दैकरसमित्यर्थः । स्वयमानन्दः परमानन्दमन्येभ्यो वर्षति नाऽन्यत्कुरुते तादृशस्वभावमिति यावत् । सर्वदैकरसा तत्प्रीतिः कदापि न विरसा भवतीति ध्वन्यते । अकम्पानुकम्पापीयूषपूरप्रपातपरम्परानुभासस्पृहणीयतमस्वरूपा च परिस्पन्दमानप्रसादसुधारसपरिस्यन्दसंसिक्तसर्वसेवकसमाजसमभिनन्द्यमानसमुदया च सेति । अन्येऽस्य भयात्कम्पन्ते । नाऽयमन्येभ्यः कम्पते । किन्तु सर्वानेवेशमानिनः स्ववशे स्थापयति । नियोजयति च कर्मकरानिव तत्र तत्र कार्य्येषु । तदनेजत् । "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः । भीषाऽस्मादिन्द्रश्चाऽग्निश्च मृत्युर्धावति पञ्चम" इति श्रुतेः । "मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्य्यस्तपति मद्भयात् । वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युर्धावति पञ्चम" इति स्मृतेश्च । भक्तरक्षायामनेजत् । तत्परत्वात् । तदुक्तम्—"सप्ताहमदधाद्गिरिम् । सप्ताहं नाऽचलत्पदात् । उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् । विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः । मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चाऽस्म हरेऽभिरक्षिताः । विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।

४ ईशा०

त्सम्भवत्येव तल्लाभः । लब्धपूर्वमेव वा तद्भवेत् । देवानामलभ्यत्वाभावात् । अचिन्त्यप्रभावा हि देवा इति चेन्न । नाऽस्य लाभादौ स्वबलं प्रयोजकं कस्याऽपि । किन्तु भगवत्कृपैव प्रयोजिका । यमिच्छति स प्रवर्त्तते विन्दति च तत्सेवाम् । नाऽन्य इत्याह—नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । भगवति दैन्यहीनाः स्वबलेनाऽवलिप्ता नन्दनादौ क्रीडापरा मोदमाना मत्ता देवास्तदर्थं तापक्लेशरहिता एनत् उक्तस्वरूपं परं ब्रह्म नाऽऽप्नुवन्न प्राप्तवन्तो न विजज्ञुश्च । तत्र हेतुः—पूर्वमर्षत् । प्राप्नुः प्राप्त्यनुकूलव्यवसायात्पूर्वमेव समर्षत् प्राप्नुवत् । न हि प्राप्ता तत् प्राप्नोति । किन्तु प्राप्तारं तद्ब्रह्मैव स्वयं प्राप्नोति । अयं मां प्राप्नोत्वितीच्छया । प्राप्ते हि तस्मिन् रुचिस्ततस्तत्सेवादौ प्रवृत्तिः । अप्राप्ते तु कुत्र निर्विषया रुचिरास्पदमासादयेत् । किंविषया भवेत् । कस्य च सेवादौ प्रवर्त्तेत । तस्मात्प्राप्यतया पूर्वमेव यानधिकारिविशेषान् कृपाविषयानभिमुखीभवति त एव सन्मार्गलाभादिना तत्प्राप्नुवन्ति । ये तु तदतिरिक्तास्ते तु संसरन्त्येव । देवा अन्यत्र सन्तु देवाः । भगवत्प्राप्तिविषये तु त इतरतुल्या एव । संसारित्वात् । तस्माच्चे ब्रह्मादयस्तनुभृतस्त्वमसि स्वपन्तो विधावतामभजनीया एव । भगवानेव भजनीयः । स चाऽतिकृपालुरात्मीयान् भजनीयतया पूर्वमेवोपतिष्ठते । ततस्ते तं भजन्ति प्राप्नुवन्ति च । तथाच श्रूयते—"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि"ति । वरणोत्तरमपि न स्वबलं सहकारि । किन्तु तदनुग्रहबलविचारेणोत्तरोत्तरानुग्रहार्थमुत्तरोत्तरसन्निधानार्थं च दैन्यातिशय एव सेवादौ निश्छिद्रा तत्परता च । तथैव हि श्रूयते—"नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे"ति । तदेतद्देवानां किमपि नाऽस्तीति नैनद्देवा आप्नुवन् । तेन ब्राह्मण्यादिस्वयोग्यताभिमानं स्वसाधनाभिमानं च त्यक्त्वा तदेककृपावलोकनैकप्रतीक्षिणा तदर्थं दैन्यवता च भवितव्यं बुभूषुणा । देवेभ्योऽप्यधिकस्य स्वसौभाग्यं सेवयता मन्तव्यम् । सौभाग्यमदश्च वारयितव्यः । नाऽन्यत्र दैन्यं चिन्तनीयमित्युपदेशः फलितः । किञ्च । निजजनेषु कृपातिशयाद्वैकुण्ठं विहाय पूर्वमेवाऽविज्ञातमेव श्रीमन्नन्दयशोदादीन् भजजनान् भज-

भूमिष्ठ लीलार्थं तदानन्दप्रदानार्थञ्चाऽर्पित् गच्छत् एतत् पूर्वोक्तस्वरूपस्वभाव-
शक्तिकं परं ब्रह्म देवा अतीन्द्रियज्ञानसामर्थ्यवन्तोऽपि अवतारकालात्साक्षात्प-
श्यन्तोऽपि लीलाविशिष्टं तच्च तल्लीलाञ्च नाऽऽमुवंस्तत्त्वतो न ज्ञातवन्तो ज्ञात-
वन्तोऽपि न प्राप्तवन्तः किन्तु मुहुर्मुहुरनुतापमेव दधुः । तदुक्तम्—"बिभ्र-
द्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभु-
ग्बालकेलिरि"त्यत्र "स्वर्गे लोके मिषती"त्यनेन । बालकेलिषु प्रसक्तस्य यज्ञ-
भुजो भगवतः श्रीमन्नन्दराजकुमारस्य परित उपविष्टैः स्वसुहृद्भिर्गोज्यादानप्रदा-
नादिरूपां भोज्यप्रदानोद्यमस्वयम्भक्षणपरस्परवञ्चनतज्जनितहासादिरूपाञ्च लीलां
विलोक्य ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयो देवाः कदाचिन्मुमुहुः—परं ब्रह्मैवाऽयं न वेति ।
कदाचिच्च परं ब्रह्मैवाऽयम् । किन्त्वङ्गीकृतवत्सल इत्थं क्रीडति । हा हन्त न
वयं व्रजस्याऽऽभीरार्भका यत्रविम य इत्थं तत्कृपामनुभवन्ति । "अहोभाग्यम-
होभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनमि"ति ।
धिगस्मान्देवगमन्यान् देवानेतदानन्दवञ्चितानित्यभिप्रायेण स्वर्गे लोके मिषती-
त्यर्थः । सुस्फुटञ्चैतद्वत्साहरणलीलयामिन्द्रमानभङ्गलीलयामन्यत्राऽपि च ।
तस्मान्न कोऽपि तत्समः । तदेव परं ब्रह्म सर्वोत्तमम् । इतरत्सर्वमवरम् । तत्प्रा-
प्तिश्च तदनुग्रहबलादेव । न स्वसाधनबलादिति स्थितम् । नन्वनुग्रहोऽप्रयोजकः ।
शास्त्रान्यथानुपपत्तेः । "शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनमि"त्यादिवाक्येभ्यश्च । अतः शास्त्रो-
क्तमार्गैरेव कर्मज्ञानादिभिः पुरुषार्थ इति चेन्नैवमित्याह—तद्धावतोऽन्यान-
त्येति तिष्ठदिति । सद्गुरूननुपसद्य सत्सङ्गमगत्वा शास्त्राशयमनासाद्य भगव-
न्तमविज्ञाय कर्मज्ञानादीनां तदाराधनरूपतामबुद्ध्वा तदनुग्रहस्य सर्वत्र नियामक-
तामनिश्चित्य अज्ञैर्धूर्तैरिव वा प्रतारिताः शिष्टानां वचनमशृण्वन्तः कर्मज्ञानादिभि-
रनीश्वरैः पुरुषार्थप्रेप्सया धावन्तः क्लेशमनुभवन्ति ये तान् धावतः । अन्यान् ।
अनुग्रहात्मकमार्गेभ्यः पृथग्भूतान् भगवदुपेक्षितान् पृथग्जनान् । तत् । कैश्चि-
देव साक्षाद्भगवदनुगृहीतैरेव वेद्यं सेव्यं लभ्यञ्च । तिष्ठत् । तादृशेष्वेव तैर्व-
शीकृततया अन्यतोऽवरुद्धगतिकतया च वर्तमानम् । तदुक्तम्—"मयि निर्ब-
द्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं

यथा । यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् । यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् । पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् । रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा । न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदे"त्यादि । "तिष्ठन्मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैरि"ति चोक्तम् । किञ्च । तिष्ठत् । शास्त्रेषु सर्वशास्त्राशयतया अनुगृहीतैर्दृश्यमानं निर्वर्ण्यमानं व्याख्यायमानमर्थसंशयेनाऽवधार्यमाणं श्रीकृष्णः शास्त्रार्थ आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थ इति निश्चीयमानमतिरोहितं देदीप्यमानम् । अपीति शेषः । अत्येति । तान् प्रति तिरोभवतीत्यर्थः । तेषां दोषादेव तिरोभवति । प्रद्वेषाभिभूतत्वाच्चदृष्टेः । प्रद्वेषाभिभूतदृष्टयस्त एव तत्परं ब्रह्म वस्तुत ईशत्वसेव्यत्वादिरूपेण न पश्यन्ति । न तु तत्स्वयं तिरोभवति । यथा कंसादीनाम् । लीलयैव पूतनातृणावर्त्तादिवधेन कुवल्यापीडादिवधेन च देहिष्वसङ्गतानामतुल्यातिशयानां पराक्रमाणां प्रदर्शनात् । शास्त्रेषु प्रकाशमानतायाः संराधनेन प्रत्यक्षमनुभूयमानतायाः सत्सम्प्रदायानां संराधकानां जागरूकत्वाच्च । तेन तेषु तस्य प्ररोषो नाऽनुग्रहः प्रद्वेष्यास्ते सर्वपुरुषार्थवञ्चिताः शाश्वतनरकाधिकारिण इति भावः । भक्तिमार्गेऽपि ये भगवदनुग्रहं कर्मजन्यमेव मन्यन्ते । न तु सन्मार्गमात्रनियामकम् । कर्मादीनां व्यापारत्वमेव न कर्तृत्वमिति । स्वतन्त्रमपि चाऽनुग्रहमार्गं ये न मन्यन्ते तान् प्रत्यपि तिष्ठदपि तत्तिरोहितमेव । अभ्यसूयकत्वात् । अभ्यसूया हि गुणेषु दोषाविष्करणम् । आदावीश्वरमेव केचिन्नेच्छन्ति । इच्छन्तोऽपि केचित्सर्वविशेषशून्यमकर्तृ चाऽभजनीयञ्चेत्यादि सद्गुणानां प्राकृतत्वं नाऽप्राकृतत्वमित्याधातिष्ठन्ते । अन्ये तद्विपरीता अपि विधिनिषेधशास्त्रान्यथानुपपत्तिभिया कर्मपरितुष्ट एव स फलं प्रयच्छति । न तु निरतिशयानुग्रहशीलत्वविवशो दोषानदृष्ट्वाऽप्यपराधाननुसन्धायाऽपि स्वातन्त्र्येणाऽपीति कथयन्ति । स्वतन्त्रमनुग्रहमार्गं नेच्छन्ति । यस्तावत्—"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वामि"त्यादिभिः श्रुतिसहस्रैः "अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमा-

सुराः । यदृच्छयेहोपसृता यमाद्युर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् । न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः । व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् । सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगाः । गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः । विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः । रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ । बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः" इत्यादिस्मृतिसहस्रैश्च जोघुष्यते । अपरे युक्तिविरोधे वेदो न प्रमाणमित्यातिष्ठाना वेदस्य निरपेक्षं प्रामाण्यमनभ्युपेत्य भगवति निरङ्कुशमैश्वर्य्यं तत्प्रतिपाद्यं युक्त्यगोचरं न सहन्ते । इतरे—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परम्भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् । इत्यपरस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्तलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि । कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् । निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् । क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नादि"त्यादिनिर्वचनसहस्रैर्लीलानामेव यथार्थवेदार्थत्वमनध्यवस्यन्तस्तत्परतया वेदमनर्थापयित्वाऽवतारचरित्रमात्रपरतया व्याचक्षते । ते सर्वेऽप्यभ्यसूयकाः । तेऽपि धावन्त्येव । याथार्थ्यानुपलम्भेन वृथा प्रयासात् । अन्ये च । पूर्णानुमहाभावात् । अभ्यसूयान्यथानुपपत्तेः । तान् प्रत्यपि यथा कथञ्चनाऽन्धहस्तिन्यायेन ज्ञेयतया तिष्ठदपि सर्वात्मना याथार्थ्येन सचिरोहितमेवेति ज्ञेयम् । यत्तु शास्त्रान्यथानुपपत्तिरित्युक्तम् । तत्—"गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध" इति सूत्रोक्तव्यवस्थया मर्य्यादामार्गेऽनुग्रहव्यापारतया विधिनिषेधयोरुपपत्त्या नाऽऽनर्थक्यमिति सिद्धान्तेनैव समाहितम् । तस्माद्भगवदनुग्रहं विना तत्प्राप्तौ नाऽन्या गतिः सर्वेषामपीति तदनुग्रहः सर्वैर्थैव मृग्यः सर्वैरपीति स्थितमेतत् । ननु य एवं देवानामपि दुराराध्योऽन्येषाञ्च महाविदुषामपि महताम् । महानसावीशः । स कथमसदादीनामकिञ्चनानां किम्पचानानामाराध्यो भवेदिति । तत्राऽऽह—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीति । सत्यं महानसावीशः । तस्याऽसदादिभिः किमाराधनं सम्भवति । "किमासनं ते गरुडासनाय किम्भूषणं कौस्तुभभूषणाय । लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किं

ते वचनीयमस्ती"ति वाक्यात् । स च सर्वनिरपेक्षो धनादिना भजतोऽपि जनानुपेक्षते । तदुपेक्षाकार एव किमासनमिति वाक्येन दर्शितः । आत्मारामत्वादाप्तकामत्वाच्च । तदुक्तम्—"भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः । आत्मारामा ह्याप्तकामा"इति । अन्यच्च—"अथाऽनयाऽपि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमुपलभामहे" इति । "न भजति कुमनीषिणां स इज्यामि"त्यादि च । तेन देवादीनामपि पूजामुपेक्षते । न गृह्णाति । किन्तु स्वकीयानामनुगृहीतानां भक्तानां तुच्छातितुच्छमपि प्रेमोपायनमनुगृह्णाति स्वीकरोत्यपेक्षते प्रशंसति बहु मन्यते परितुष्यति च । तत्प्रसिद्धं सुदामचरित्रे—"नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे । तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुला" इत्यादौ । "अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्य्येव मे भवेत् । भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते" इति "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन" इति च तदेव दर्शितम् । अश्नामीत्युक्त्या तद्बुभुक्षाऽप्यस्योक्ता भवति । सा चाऽनुग्रहविलास एव । न स्वतः । "अविजिघित्सोऽपिपास" इति श्रुतेः । एवमभिप्रायेणाऽऽह—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति । तस्मिन् । स्वबलेन सर्वथैवाऽप्राप्ये दुराराध्ये सर्वथैव सर्वत्र निरपेक्षे श्रीपतौ निस्समाभ्यधिकपरमैश्वर्य्यपरिपूर्णे आत्मारामे आप्तकामे देवाराधनमप्युपेक्ष्य स्थितेऽन्येषामपि विघातपोयोगधनैश्वर्य्यादिमतामपि पूजनमप्रतिपद्यमाने सर्वेषामप्युपायानां वशीकरणार्थानामगोचरे स्वतन्त्रे निरङ्कुशे निर्गुणे स्वानन्दतुन्दिले तुच्छीभूततदन्यैश्वर्य्ये ब्रह्मादिदुरापलीले निरस्ताराधनावसरेऽपि सौशील्यवात्सल्यादिगुणगणागारे प्रेमपरतन्त्रेऽनुग्रहैकशीले भक्तवश्ये दीनानुग्रहव्यग्रे कृपापीयूषवर्षाप्रावृषेण्यापूर्वपयोदे सदयसहृदयसमुदयसंश्लाघनीयमहनीयदयाविवशाशये भक्तगृहभोजनमपेक्षमाणे तदर्थे क्षुधातुरे येन केनाऽपि भक्तोपहृतेन प्रेममयेन वस्तुना परमपरितोषशीले भगवति । अपः । तुच्छातितुच्छपत्रपुष्पफलोपहारापेक्षयाऽपि तुच्छतरोपायनमिदमित्यतिदैन्यप्रदर्शनार्थमप इति । अण्वप्युपाहृतमित्युपक्रम्य नाऽणुत्वं परिमाणत एव विवक्षितं किन्तु पदार्थानां तुच्छतयाऽपीत्यभिप्रायेण पत्रं पुष्पमित्युक्तौ सर्वाभावे तोयस्य दुर्विधतमेनाऽप्युपहर्त्तुं शक्यतया सुलभत्वेन च सर्वान्त उपादानात् ।

मातरिश्वा वायुः । मातरि जनन्यां कश्यपपत्न्यां दितौ वर्धत इति मातरिश्वा । स च दित्या व्रतपूर्वकं भगवदर्चनेन भगवत्प्रसादाल्लब्धः । भगवतैव च कृपया गर्भे रक्षितः । तदुक्तम्—"न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया । बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवानि"ति । तेनाऽनुगृहीतः । भगवद्भक्तः । भक्तवत्सले भगवति निरतिशयानुरागः । तत्सेवानिष्ठः । तदिदं श्रीमद्भागवते षष्ठस्याऽष्टादशे स्फुटम् । ब्रह्मविदामग्रगण्यश्च वायुः । पुराणवक्तृत्वात् । "नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसी"ति "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती"ति च श्रुतिः । ब्रह्मवित्त्वमनियता च भक्तिः । अतः परमभक्तिमान् वायुः । दधाति । निरन्तरमिति भावः । वर्तमानप्रयोगात् । न तु निधाय गच्छति । तथाच प्रेमविवशस्तत्सेवार्थं जलं दधानस्तत्परस्तिष्ठत्यवसरं तत्कृपाकटाक्षञ्च प्रतीक्षमाणः । दधाति । न तु ददाति । स्वत्वबुद्धेरपोदितत्वात् । स्वामित्वस्याऽऽविधकस्य निरस्तत्वात् । स्वस्वामिसम्बन्धालिङ्गितं हि दानम् । तादृशस्य सम्बन्धस्यैवाऽभावे कथं दानम् । केवलं सेवकत्वमवतिष्ठते प्रेमवैवश्यविशिष्टम् । तस्मिन्नपः स्नानपानादिना तदाधेया अपः । आपश्च प्रेममयमुपायनम् । रसात्मकत्वात्प्रेम्णा चोपाहृतत्वात् । प्रेमवता हि सरसञ्चोत्कृष्टञ्च प्राणाप्यायकञ्च मधुरञ्च तापहारकञ्च वस्तु निवेदनीयम् । तत्राऽन्येषां सरसत्वविधायिनीनां रसात्मिकानामपां सरसत्वमनिर्वचनीयम् । सर्वेषूपहारेषु प्रथमत्वात्सर्वेषामुपहरणीयानामम्मूलत्वाच्चोत्कृष्टतमत्वम् । "अप एव ससर्जाऽऽदावि"ति वाक्यात् । प्राणाप्यायिकाश्च ताः । "आपो वै प्राणाः" इति "आपोमयः प्राणः" इति श्रुतिभ्याम् । मधुरास्तापहारिकाश्च । प्रत्यक्षात् । "क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणाप्यायनोन्दनम् । तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमा" इति वाक्याच्च । मातर्यन्तरिक्षे श्वयति सञ्चरति स्वामित्वादित्यतश्चाऽपि मातरिश्वा । तथाच वायुपुराणम्—"शब्दाकाशबलानाञ्च वायुरीशस्तथा कृत" इति । तेन पयोधरग्रहनक्षत्रतारकादीनां तदधीनत्वमुक्तम्भवति । उक्तञ्च—"व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथाऽमृतं घना" इति । तथा सति वर्षासरित्सरःप्रस्रवणादिरूपा लीलोपयोगिनीः सेवार्था अपो मातरिश्वैव तस्मिन् प्रेष्ठे दधाति । तथा चोक्तम्—"ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा । विद्योतमानपरिधिर्विस्फू-

र्जितनभस्तला" इत्यादिना प्रावृषं वर्णयित्वा "एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् । गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः । धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा । ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः । वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः । जलधारा गिरेरासन्नासन्ना ददृशे गुहाः । क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाऽभिवर्षति । निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः । दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके । सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः । शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् । तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः । प्रावृट्श्रियञ्च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम् । भगवान् पूजयाञ्चक आत्मशक्त्युपबृंहितामि"ति । "वीक्ष्याऽऽतपे गजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् । प्रेमप्रवृद्धमुदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रमि"ति । "तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयस्सरस्वता । वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दध"इति । "सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा । न वर्त्तते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वल" इति । "दृष्ट्वं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् । यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितमि"ति । "ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः । विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् । शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम् । कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् । तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्ऌपन्नासनमात्मबन्धव" इति । "ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रजः सकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः । गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः । सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग । वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः । ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे । चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिरि"ति च । तथाच मातरिश्वना तस्मिन्नन्धारणं यच्चदेवम्प्रकारकं सेवोपयोगि लीलोपयोगि च विवक्षितमिति ज्ञेयम् । अप्पदञ्च सर्वतत्सम्बन्धिवस्तूपलक्षणम् । तेन पक्वखर्जूरजम्बुकन्दमूल-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

पत्रपुष्पफलमधुधारावनराजितरुपल्लवपट्पदादीनाञ्च गोगोपादीनां प्रमोदस्य च प्रावृट्श्रियश्चाऽन्यस्यास्तत्प्रयुक्तलीलायाश्चाऽनतिरिक्तत्वमेवेति । किञ्च । न यद्भिरेव वर्णितविस्तराभिः केवलाभिर्भगवन्तमाप्नोति किन्तर्ह्यात्मना स्वरूपेणाऽपीति मातरिश्वेत्युक्तम् । वायुरपि तावदाप इव सेवोपयोगी लीलोपयोगी चेति । तदुक्तम्—"ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिरि"ति । "महन्मनःप्रस्व्ययस्सरस्वता । वातेन जुष्टं श्वयन्त्रगन्धिने"ति । "ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे । चचारे"ति च । तदेवमनुगृहीतानामेव भगवत्प्राप्तिर्नाऽननुगृहीतानामित्युक्तम् ॥ ४ ॥

इदानीमनुगृहीतैकफलात्मकं भगवत्स्वरूपमाश्चर्य्यरसैकनिधानमित्याह—तदेजतीत्यादिना । तत्रेशाऽऽवास्यमिदं सर्वमिति कार्य्यद्वारैव कारणस्य परब्रह्मणो ज्ञानमनुगृहीतस्य पूर्वं ततो माहात्म्यज्ञानपूर्विकया भक्त्या तत्सेवादिना तत्साक्षात्कारस्तल्लाभश्चेति सिद्धान्ताय कार्य्यं जगदुपक्रान्तम् । तद्धि "अथैतद्विश्वमखिलं नानारूपं निरीक्ष्यते । अतीव चित्रमेतस्य कारणं परिचिन्तयामि"ति रीत्या कारणजिज्ञासोदयद्वारा परब्रह्मज्ञापकं तदुपलम्भकञ्च । तदिदमीशाऽऽवास्यमित्यादिना दर्शितम् । तदेजतीत्यादिना मन्त्रेणाऽपि परं ब्रह्मैव कारणं जगत्पुरस्कारेणैव च ज्ञापयन्ती युक्त्यगोचरसर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेनाऽऽश्चर्य्यरससन्निवेशाय तत्सेवातद्गुणगानादिप्रसक्त्यै च वर्णयति । द्वितीयस्य षष्ठे "नाऽहं न यूयं यद्दतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुताऽपरे सुराः । यन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चाऽऽत्मसमं विचक्ष्महे" इत्यत्र श्रीसुबोधिन्यां "सर्वगुणप्रसिद्धिरूपत्वाज्जगत" इति सिद्धान्तस्य स्थापनात् । "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासे"त्युपक्रम्य—"जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादि"ति ब्रह्मसूत्राच्च । ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मक्रीडात्मकत्वञ्च जगतः स्थितम् । "तदनन्यत्वलीलाकैवल्य"सूत्राभ्याम् । एवं सति जगति यदेजद्वस्तु तद्ब्रह्मैवैजति । यच्च नैजति ब्रह्मैव नैजति । सर्वमिदं भगवत्क्रीडैवेत्यर्थः । तद्दूरे । अदृष्टमश्रुतञ्च यत्तदपि तत् ब्रह्मैव । तद्वदन्तिके । यच्चान्तिके दृष्टं श्रुतञ्चेत्यर्थः । तदपि तद्वत् । ब्रह्मैवेत्यर्थः । तेन नित्य-

युक्तमेवेति वा । ननु तथा सति सर्वस्य ब्रह्मरूपता कुतो नाऽनुभूयते कुतश्च जडाद्यात्मकताऽनुभूयते ? तत्राऽऽह—तदन्तरस्य सर्वस्येति । अन्तर्धाय स्थितत्वान्नाऽनुभूयते ब्रह्मात्मकता । जडात्मकता चाऽनुभूयत इत्यर्थः । का विनिगमनेत्यत्राऽऽह—तत्सर्वस्याऽस्य बाह्यत इति । सच्चिदानन्दानां समन्वयस्याऽनुभूयमानत्वात्सर्वमिदं ब्रह्मैवेति विनिगम्यत इति भावः । तथाच सर्वभवनसामर्थ्यात्सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेनाऽचिन्त्यानन्तमहामहिमकमाश्चर्यरसैकनिधानमतुल्यातिशयं प्रसह्य चित्ताकर्षकं स्वसेवागुणगानादिषु निरोधकमितररागविस्मारकं बाह्याभ्यन्तरयोरभितश्च स्वस्फूर्तिसम्पादनेन सर्वात्मभावोदयद्वारा मुख्यशरणागतिप्रदानद्वारा चाऽकुतोभयव्यापकमद्भुतकर्मत्वेनाऽसाधनं साधनं करोति तादृशं फलानुभवेऽपि विपश्चिता ब्रह्मणेति पदाभ्यामप्रधाने तृतीयया भक्तस्वातन्त्र्यभक्तेच्छावशगत्वाभ्यां चैजन्नैजति नैजचैजतीत्यादिरूपेणाऽऽश्चर्यरसैकनिधानमेवेति साधनफलदशयोरुभयोरपि परमानुकूलं तद्ब्रह्मैव सर्वथा भजनीयं तदीयैः सुलभानुभवमित्युक्तम् । यद्वा । एवं भगवत्स्वरूपादिवर्णनेन भगवति प्रेमभरमुद्रेच्य भूयःश्रवणे शिष्यस्योत्कण्ठा जनिता । उत्कण्ठितस्य हि रसविशेषानुभवो नाऽनुत्कण्ठितस्य । विद्यमानतायामपि नोत्कण्ठितस्य दोषस्फूर्तिरनुत्कण्ठितस्य त्वविद्यमानोऽपि दोषः स्फुरति । तेनैव तस्य रसविशेषानुभव उत्पद्यतेऽन्यस्य च नैव भवतीति । अथाऽनवगाह्यमाहात्म्यस्य भगवतोऽचिन्त्यो महिमा वाङ्मनसागोचरो नेदमित्थतया विशिष्य वर्णयितुं शक्य इत्यभिप्रायेण सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वमुद्देशमात्रेण निरूपयन्ती तादृशे जीवैः सद्भावो वा शरणागतिर्वा दैन्येन परिचर्या वा कर्तव्या नाऽन्यत्कर्तुं शक्यमित्याद्याशयवती पूर्वमन्त्रोक्तदौर्लभ्यसौलभ्ययोरेवमेवत्वाय लाभेऽपि सति परमदौर्लभ्यस्फूर्त्या अलभ्यलाभत्वेन परमो हर्षातिरेकः स्याच्च दैन्यहानिरित्यलाभेऽपि सौलभ्यस्फूर्त्या समुत्साहातिरेको भजनार्थिनो भवेन्नाऽवसाद इति विशेषव्यञ्जनाय च विरुद्धधर्माणां यौगपद्यमाह—तदेजतीत्यादिना । यत्तावज्जगत्कारणतया जिज्ञास्यत्वेनेशतया सेव्यत्वेन चोपक्रान्तं तत्परं ब्रह्म एजति कम्पते चलति चेष्टते सर्वमेव करोतीत्यर्थः । तन्नैजति । यत्सर्वं करोति तदेव नैजति न कम्पते न चलति न चेष्टते न किञ्चित्करोति किन्तु कूटस्थमेवेत्यर्थः ।

वर्त्तमानप्रयोगाभ्यान्तत्पदावृत्त्या च यौगपद्येनैकाधिकरणवृत्तित्वमुभयोर्विरुद्धयोः क्रिययोर्विवक्षितम्। तद्दूरे। तदेव दूरे वर्त्तते न सन्निकृष्यते। तद्वदन्तिके। तदेव समीपे वर्त्तते न विप्रकृष्यते। तद्वत्। सन्निकर्षविप्रकर्षयोर्युगपदेकैकाधिकरणवृत्तित्वमित्यर्थः। तदन्तरस्य सर्वस्य। तदेवाऽस्य सर्वस्य जगतोऽन्तरेव वर्त्तते नाऽन्यतः। तत्सर्वस्याऽस्य बाह्यतः। तदेवाऽस्य सर्वस्य जगतो बाह्यत एव वर्त्तते नान्तः। तद्वदित्यनुपज्ञनीयम्। किन्तात्पर्य्यम्। अनवगाह्यमाहात्म्यत्वादि। विचित्रोऽस्य शक्तियोगोऽतिशेते सर्वान्। ननु विरुद्धधर्माश्रयत्वं कथमुपपद्यते। प्रमाणात्। श्रुतिर्हि भगवती नः परमं प्रमाणम्। प्रमाणान्तरानधिगते हि परब्रह्मणि श्रुत्येकशरणत्वात्। शब्दबलविचारको हि भगवानाचार्य्यो वेदव्यासः। तत एवाऽसूत्रयत्—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि"ति। "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवदि"ति च। वस्तुसामर्थ्याच्च। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत"इति। "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति च। स्वाभाविकी। न साधनसव्यपेक्षा। तेन साधनसव्यपेक्षतायाः सर्वत्र प्रतिषेधः स्वाभाविकतायाश्च विधानमिति नाऽनुपपत्तिः काचित्। तथाच सूत्रम्—"प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय"इति। तथाच भाष्यम्—"प्रतीतस्य प्रतिषेध्यम्। नाऽप्रतीतम्। न श्रुतिप्रतीतमि"ति। आविर्भावतिरोभावाभ्याञ्च। न च यौगपद्यहानिः। अभावानां तिरोभावातिरिक्तत्वेनाऽनङ्गीकारात्। प्रतियोगिभेदेनाऽपि परस्परविरुद्धदयामारकत्वयोर्युगपदेकाधिकरणवृत्तित्वस्य राजादिहृदये मत्यक्षाच्च। पुरुषोत्तमत्वेन क्षराक्षरातीतत्वाच्च। "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति वाक्यात्। क्षरमेजति। क्षरणात्। तदतीतत्वात्पुरुषोत्तमो नैजति। अक्षरं नैजति। कूटस्थत्वात्। तत उत्तमत्वाद्भक्तवात्सल्यादिगुणगणागारत्वेन पुरुषोत्तम एजति। क्षरमन्तिके। क्षरस्थत्वादस्माकम्। क्षरातीतत्वात्पुरुषोत्तमो दूरे। अक्षरं दूरे। क्षरातिरिक्तत्वात्। अक्षरादुत्तमत्वात्कृपादिना पुरुषोत्तमो भक्तानामन्तिके। क्षरमबाह्यम्। व्यवहारगोचरत्वात्। तदतीतः पुरुषोत्तमः सर्वस्य क्षरस्य बा-

ध्रतः । अक्षरं ब्राह्मम् । व्यवहाराविषयत्वात् । तदतीतत्वात्पुरुषोत्तमः क्रीडार्थं च निजजनजीवातवे च विनाशाय च दुष्कृतामस्य सर्वस्य क्षरस्याऽन्तरेव । प्रातिस्विकाः क्षराक्षरधर्माः पुरुषोत्तमे न सन्ति । पुरुषोत्तमत्वात् । तथा सति स्वतश्चा अपि पुरुषोत्तमधर्मा युगपदेकाधिकरणवृत्तयोऽविरुद्धा अपि च क्षराक्षरयोः सहानवस्थायिनो विरुद्धा एव । तेषां पुरुषोत्तमे सहावस्थानप्रतिपादनमनन्यभावोदयार्थं तेन तद्भजनार्थञ्च । तदिदं विस्पष्टयन्नुपरिष्टादाचष्टे—"यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते"ति । असम्मूढः विरुद्धानां धर्माणां सहावस्थानमुपपन्नमावश्यकञ्च मन्वानः । सर्ववित् । क्षराक्षरपुरुषोत्तमविवेकद्वारा भजनीयतमपदार्थनिर्धारणात् । सर्वभावेन विषयान्तरातिमसक्तिरहितेनाऽनन्येन परिपूर्णेन प्रेम्णा । अनुगृहीतञ्चैतच्छ्रीमत्कृष्णाश्रयस्तोत्रे श्रीमदाचार्य्यचरणैः—"प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममे"ति । किञ्च । पुरुषोत्तमः क्षराक्षरयोः कारणम् । कारणे चाऽन्योन्यविरुद्धसर्वभवनसामर्थ्यमिति विरुद्धसर्वधर्माश्रयता तत्र जौपमेवाऽङ्गीकरणीया । न विमतिपत्तिगोचरः । सत्कार्य्यवादाभ्युपगमात् । दारुणो हि हस्त्यश्वगवादयः परस्परविरुद्धधर्मवन्तः कारुभिरुद्भाव्यन्ते । ते सर्वेऽप्यन्योन्यविरुद्धा धर्माः पूर्वमेव दारुणि स्थिताः कारकव्यापारेणाऽभिव्यज्यन्ते । कार्य्यगतेभ्यश्च तेभ्यस्ते कारणे सामानाधिकरण्येन स्थिता व्यतिरिच्यन्ते । तस्मात्कारणस्य कार्य्येभ्य उत्तमत्वं सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वञ्च स्थितम् । नन्वेवमनुमेयतापत्तिः । विशेषासिद्धिश्च । नैष दोषः । श्रुतार्थस्य बुद्धावारोहाय दृष्टान्तो नाऽनुमानार्थः । श्रुतिमात्रप्रमाणकत्वात् । श्रुत्येकशरणस्य तस्याऽदृष्टत्वाच्च । कारणगतधर्माणामेव दार्वादिषु दर्शनाच्च विशेषासिद्धिः । प्रत्यक्षविरोधादेव माहात्म्यम् । प्रत्यक्षाविरोधदृष्टान्तस्तु सर्वातिशायित्वादेव नास्ति । सर्वातिशायित्वस्यैव निरस्तसाम्यातिशयत्वरूपस्य प्रतिपादनाय सर्वविरुद्धधर्माश्रयं तं वर्णयन्ति श्रुतिप्रमुखानि शास्त्राणि । तेन मन्दानुग्रहाय यथाकथञ्चिद्बुद्धिसौकर्य्यार्थमेव दृष्टान्तो विरुद्धधर्माश्रयत्वन्तूभयव्यपदेशादेव । युक्तिविरोधस्तु वस्तुतो भूषणं न दूषणम् । सति दृष्टान्ते सर्वातिशायित्वायोगात् । सर्वोद्धारप्रयत्नात्मनि भगवति सर्वविरुद्धधर्माश्रयताया आव-

श्यकत्वाच्च । तत एव—“मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान् गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः । मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः” इति “गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो” इति “निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् । स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा” इति च वचनानि । श्रीमदाचार्य्यचरणाश्चैतन्निष्कर्षमूचुः—“नमो भगवते तस्मै कृष्णायाऽद्भुतकर्मणे । रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यत” इति । तस्मात्सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वे ब्रह्मणो माऽभ्यसूयित्वमनुगृहीतेन । ब्रह्मतावच्छेदकत्वादिति । तत एव श्रीमद्भगवद्गीतासु नवमे—“इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभादि”ति गुणेषु दोषाविष्करणलक्षणासूयोदयासम्भवपुरस्सरसमुत्कर्षदर्शनमहर्षभ्रंशासमसक्तिप्रचुरस्पृहयालुत्वलक्षणगुणशीलत्वमनसूयुत्वमधिकारिविशेषणं प्रथममुक्त्वा प्रवक्ष्यमाणस्य गुह्यतमस्य विज्ञानसहितस्य ज्ञानस्य “राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययमि”ति महत्त्वातिशयमुखेन सर्वथोपादेयत्वमतां प्रतिपाद्य “अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्याऽस्य परन्तप । अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनी”ति तत्राऽश्रद्धाया बलवदनिष्टानुबन्धित्वप्रतिपादनेन दुरुत्साहदुस्सज्ञादिनाऽनुपपत्त्यादिदूषणोद्भावनप्रमादपरिवर्ज्जनस्याऽऽवश्यकत्वं शिक्षयित्वा “मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाऽहं तेष्ववस्थितः । न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरमि”त्यारभ्य मध्ये च “तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाऽहमर्जुने”त्यभिधाय “मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण” इत्याध्यायान्तमुक्तम् । तेन भगवतो विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वे भगवदीयानां परमरसास्वाद एव न विचिकित्सोदय इति । किञ्च । अथैवमुत्कण्ठायां “येन येनाऽवतारेण भगवान् हरिरीश्वरः । करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो । यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वञ्च शुद्ध-

त्यचिरेण पुंसः । भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ।
अथाऽन्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् । मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनु-
रुन्धत" इत्युक्तानुसारेणाऽभिवर्द्धमानायामाह—तदेजतीत्यादि । तत्र तदेजति
तन्नैजतीति श्रीशुकैः—"कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेत-
योषिताम् । वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती । नन्दस्य
पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः । अन्नाद्यवासःस्रगभीष्ट-
धेनुभिः सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनैरि"त्यादिना शकटभङ्गतृणावर्त्तमोक्षविश्व-
दर्शनाख्यैस्त्रिभिश्चरित्रैर्वर्णितं सम्पूर्णाध्यायेन । तत्रौत्थानिकं चरणोत्क्षेपानो
विवर्त्तादि चैजनम् । सञ्जातनिद्राक्षस्य शयनमनेजनम् । प्रत्येकमतिचित्रम् ।
क्व तावत् तादृशोऽतिबालभावस्सौकुमार्य्यातिशय औत्थानिककौतुकं तावतो-
ऽभिषेचनादिश्रमस्याऽप्यसहिष्णुता चेति । क्व च तावत् तादृशस्याऽतिबालस्य
सुकुमारतमस्य प्रवालमृद्वङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण शकटस्य विवर्त्तनञ्च भङ्गश्चेति । तदु-
क्तम्—"अधःशयानस्य शिशोरनोऽल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्त्तत । विध्व-
स्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरमि"ति । अहो नु खलु
भोः! व्रजे विस्मयरससागरसमुत्सेकः शिशोः सौकुमार्य्यातिशयैकसदनस्य सर्वथैव
स्वभावेनाऽशक्यसमन्वयं तादृशमद्भुतं कर्म प्रत्युत बाललीलाविलासरसविलसि-
तोत्सवसमुद्रेकश्च । न तदपकर्षः किञ्चिदपीति । एजनानेजनयोरुभयोरपि बाल-
लीलारससरसत्वात् । "एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती । गरिमाणं
शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवदि"त्यादिरूपमनेजनम् । "गले गृहीत उत्स्रष्टुं
नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम् । गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः । अव्यक्तरावो
न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे । तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायामि"त्यादिना वर्णितस्व-
रूपश्चैजनम् । "एकदाऽर्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी । प्रस्नुतं पाययामास
स्तनं स्नेहपरिप्लुते"त्यनेजनम् । "पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् । मुखं
लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम् । खं रोदसीज्योतिरनीकमाशाः सूर्य्येन्दु-
वह्निश्वसनाम्बुधींश्च । द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ।
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे
आसीत्सुविस्मिते"ति निरूपितश्चैजनम् । भक्तिरेव साधनम् । भगवानेव फलम् ।

तन्मूलं भगवद्वरणमेव। तन्निरूपकमेवाऽखिलं वेदादिशास्त्रम्। भक्तिविधानार्थमेव भगवतः प्रपञ्चे क्रीडनं शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः। परमात्मत्वाच्च भगवतः स्वरूपं निरन्तरनिरुपधिस्नेहर्द्धिसमुदयैकस्वभावमेव तदेकविषयश्च। "प्रतिनियतेन्द्रियवद्भक्ति"रित्येषा च सिद्धान्तस्थितिः। तेन सर्वं चतुरस्रम्। नाऽनुपपत्तिः काचित्। अपि च। श्रीमन्मातृचरणाश्चलितुं शिक्षयन्त्यः श्रीबालकृष्णमुपविष्टमुत्थाप्य उत्थितमेव क्षणमेकमवलम्ब्य पतनाभावार्थं स्थिरीकृत्य हस्तावपसारयन्ति। तदा भगवानस्थिरचरणारविन्दः पतन्निव वेपते। तत्तस्यैजनम्। अतिमनोहरञ्च मधुरतमञ्च। काश्चित्क्षणानेवं स्थातुकामोऽपि वेपित्वा पतन्निव भूमावुपविशति। तथस्याऽनेजनं परिस्रवत्स्मितसुधारसस्नप्यमानमुखारविन्दं विलोकयतामुच्छलन्महर्षवर्षं हृदयं तादृशनिजलीलाविलासतन्मयं विदधानम्। कदाचित्संक्रमस्थितानां श्रीमन्मातृचरणानामङ्केषु निमङ्क्षाम इव पुरःप्रहितैरङ्घ्रेरुपास्पाभ्यां करारविन्दाभ्यामतिमनोहराभ्यां मणिकङ्कणादिना विभूषिताभ्यां पटीपटलीमवलम्ब्य स्थिरीभवति विहसन्तीषु गोपिकासु विहसंस्तच्च तस्याऽनेजनञ्चैजनञ्च। "यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः। वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्य" इति वर्णिता कुमारलीला दामोदरलीलाऽपि चैजनानेजनव्याख्यानरूपा। तमिमं श्रीमन्नन्दालये विजृम्भमाणमुत्सवमनुभूयैव प्रहृष्टा विचित्ररसाविष्टा च क्व भगवान्निगमागमगोष्ठीगीयमानगौरवो ब्रह्मादिदुरापचरणारविन्दरेणुरचिन्त्यपरमैश्वर्यः क्व चैषा लीलाविलासविराजिता वरणविषयविषयकवात्सल्यविलसिता च भक्तियोगविधानद्वारा स्वानन्ददानानुकूला स्थितिरिति स्वसौभाग्यवैभवभरं श्लाघमाना गायति—तदेजति तन्नैजतीति। तदुक्तम्—"त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्त्वतैः। उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यताऽऽत्मजमि"ति। किम्बहुना। तद्दूरे तद्वन्तिके। संयोगविप्रयोगात्मको हि भक्तिरसः। तत्पानप्रदानसिद्ध्ये च संयोगेऽपि रसप्रकर्षाद् विप्रयोगस्य विप्रयोगेऽपि च रसप्रकर्षात्संयोगस्याऽनुभवसिद्ध्ये चेत्यर्थः। भक्तियोगानुभावेन भक्तानां दूरश्रवणदर्शनसिद्धिप्रदत्वाच्च दूरस्थस्याऽन्तिकवर्तित्वमुपजायते। मधु-

रागमनलीलया दूरस्थितत्वेऽपि "मा खिद्यत महाभागा द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके । अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसी"ति—"भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् । यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही । तथाऽहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रय" इति तस्याऽन्तिके स्थितत्वं वर्णितम् । तद्वत् । यथा दूरस्थितेरनुभावा अदर्शनाश्रुप्रलापादयोऽनुभूयन्ते तद्वदन्तिकस्थितेरपि प्रत्यक्षदर्शनसम्भाषणाश्लेषादयोऽनुभावास्तदा तदाऽऽविर्भावादनुभूयन्त एवेत्यर्थः । द्वारकालीलायाञ्चाऽन्तिक एव स्थितेऽपि भगवति प्रेमातिप्रसङ्गेन हृतधियां श्रीमतीनां महिषीणां दूरस्थितत्वमपि भातं युगपदेव । तथा हि—"विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः । कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम्" इत्यादि—"ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः । कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुरि"त्याद्युपक्रम्य "कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः । नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः । ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् । चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु"इत्युक्त्वा—"महिष्य ऊचुः—कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति जगति राज्यामीश्वरो गुप्तबोधः । वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेने"त्यादि "मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः । अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः" इत्यादि "शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः । यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरु कर्शिताः स्मे"त्यादि चोक्तम् । तदिदं श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रे दशमस्कन्धीयनामसमासौ निष्कृष्टं श्रीमदाचार्य्यचरणैः—"मनस्तिरोधानकृतत्र्यग्रस्त्रीचित्तभावित"इति । नन्वीदृशो भगवल्लाभो नाऽन्येषाम् । कुत एषाम् ? तत्राऽऽह—तदन्तरस्येत्यादि । अस्य । सर्वेतरविचित्रमहाश्चर्य्यचर्य्यस्य । "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशया यत्कृते" "प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः" "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महा-

मनाः" इत्यारभ्य "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासा-रमगुणे रमाक्रीडमभून्नृपे"त्यादिनिरूपणानुसारेण स्थितस्य भगवदेकनिरतस्य तत्सेवानुरक्तस्य "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहमि"त्याद्युक्तप्रकारेण भगवता सर्वात्मनाऽप्यात्मसात्कृतस्य शरणागतस्याऽऽत्मनिवेदिनो निस्समाभ्य-धिकस्याऽसाधारणस्य भक्तवर्गस्य यथायथं कायिकमावोभयसम्बन्धबन्धुरस्य सर्वथैवाऽनापनीयसौभाग्यभरस्य । सर्वस्य । परिजनपरिकरादियुक्तस्य । तत् ।' तथा परिपेव्यमानं स्वयं तथाविधविशेषाग्रहव्यग्रञ्च । तदेजतीत्यादिरूपेण तद्दूरे इत्यादिरूपेणाऽनुसन्धीयमानं श्रीयशोदोत्सङ्गसंश्लिष्टं श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म । अन्तः । हृदये । वर्त्तत इति शेषः । "मन्मना भव । महामनाः । इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्तो रममाणाश्च । कृष्णायः कृष्णचेतसः । ता मन्मनस्का" इत्यादिवाक्येभ्यः । तत्सर्वस्याऽस्य बाह्यतः । तत् । हृदयरुद्धमेव । "नाऽपैपि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसामि"त्युक्तेः । तथा तथा विविधभावशबले हृदये "गत्याऽनुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापवि-हारविभ्रमैः । आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिका" इति "इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः । लीला भगवतस्तास्ता ह्यनु-चक्रुस्तदात्मिका" इत्याद्युक्तप्रकारेण परिवर्त्तमानमेव तत् । अस्य । कार्य्यान्तरे अचेतनस्य सर्वथैवाऽन्यस्फुरणरहितस्य । सर्वस्य । भक्तवर्गस्य । बाह्यतः । प्रकटीभवतीति शेषः । "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इति "तासामाविरभूच्छौ-रिरि"त्यादिश्रीभागवतवचनेभ्यः । एषा खलु परमकाष्ठापन्ना मुख्या स्वतन्त्रा च पुष्टिमार्गीया वरणमात्रलभ्या सर्वात्मभावाभिख्या भक्तिस्तया तेषां तादृशो भगवल्लाभो नाऽन्येषां तदभावादित्यर्थः । सन्ति च संवदन्ति श्रुत्यन्तराणि— "यत्र नाऽन्यत्पश्यति नाऽन्यच्छृणोति नाऽन्यद्विजानाति । स एवाऽधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"त्यादीनि च ॥ ५ ॥

एवमनवगाह्यमाहात्म्यत्वाय चाऽद्भुतकर्मत्वाय च सौलभ्याय च भक्तिज-ननाय च भक्तिसौकर्य्याय च भक्तयभिवृद्धये चाऽऽश्चर्य्यरसैकनिधानत्वेन सर्व-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवाऽनुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

रसात्मकत्वसिद्धये च फलात्मकत्वफलनाय च विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वं भगवतो निरूप्येशत्वं च ब्रह्मत्वञ्च व्याख्यातञ्च समर्थितञ्च । अथाऽस्य सर्वस्येशावास्यत्वे कुत्सितत्वादिकं न भायात् । तेन माहात्म्यापकर्षश्च मक्त्यसम्भवश्च प्रसज्ज्येते इति चेत्तत्राऽऽह—यस्तु सर्वाणीत्यादि । यः । वेदैकप्रमाणनिष्ठस्तदुक्तानुष्ठानपरो ज्ञानविज्ञानसम्पन्नोऽनुगृहीतो भगवद्भक्तः । तत्प्रतीतिः प्रमाणं न भ्रान्तप्रतीतिरित्यभिप्रायेणाऽन्यव्यवच्छेदार्थस्तुशब्दः । सर्वाणि भूतानि । जडजङ्गमानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि उच्चावचानि हेयोपादेयानि विविधविधिनिषेधापन्नानि शत्रुमित्रोदासीनानि प्रतिकूलानुकूलानि मङ्गलामङ्गलानि । आत्मन्येव । सर्वात्मनि सर्वकारणकारणे भगवत्येव । मृत्सुवर्णादौ घटकुण्डलादिवत् तादात्म्येन स्थितानीति यावत् । अनुपश्यति । उत्पत्त्याद्यनुक्रमेण पश्यति । नाऽन्यत्र कालकर्मप्रकृतिस्वभावादावित्येवकारार्थः । आत्मानतिरिक्तान्येव पश्यति नाऽतिरिक्तानि । आत्मयत्वेषु क्षिपति व्यवहरति न दोषं पश्यतीत्यर्थः । प्रमाणाधिगतत्वादिति भावः । "यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयमि"ति वचनेन प्रमाणान्तराधिगतस्य मायामनोमयत्वकथनादन्तरासृष्टिविषयत्वात्कुत्सितत्वादिभानस्येति । अधिगमयन्ति च कार्य्याणां कारणानतिरिक्तत्वं प्रमाणानि । "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय । तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत । आत्मैवेदं सर्वम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते"त्येवमादीनि । आत्मैकायत्तप्रवृत्तीनीति वा तात्पर्यार्थः । तेन तैः क्रियमाणोऽपि न तानि प्रद्वेष्टि । "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः । सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात् । नाऽयं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकाल" इत्येवमादिरूपः शास्त्रार्थो दर्शितः । किञ्च । "त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथस्तनुनाथ पुंसाम् । यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय । नाऽतिप्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः । यत्सर्वभूतदययाऽसदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृ-

दन्तरात्मा" इति । "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् । ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मँल्लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् । तत्र आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः । द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः । यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् । प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् । यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः । स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छती"ति । "पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् । कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा । तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् । आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे । ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् । आत्मानुभवतुष्टात्मा नाऽन्तरायैर्विहन्यसे । दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते । गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः । सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः । पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनरि"ति च । समन्वयमाह—सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानमिति । उपादानरूपेण स्थितमस्तिभातिप्रियत्वैरनुगतैर्धर्मैः प्रत्यभिज्ञायमानं "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवदि"ति "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति श्रुत्युक्तप्रकारेणाऽपि वर्तमानं "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति श्रुत्युक्तया प्रक्रियया प्रत्यक्षमप्यनुभूयमानम् । चोऽन्वाचये समुच्चयेऽवधारणे वा । अनुपश्यतीत्यनुषङ्गः । अन्वीक्षया पश्यतीत्यर्थः । ततो न विजुगुप्सते । एवं भगवद्रूपतया तदधिष्ठेयतया चाऽवधारितात्प्रपञ्चादित्यर्थः । न विजुगुप्सते । कुत्सितत्वादिभानविगलनादवस्तस्यैवाऽभावादित्यर्थः । किन्तर्हि करोति । अभिनन्दति । तेन माहात्म्योत्कर्षो भक्त्यवश्यम्भावश्चाऽनुगम्यमिति निरूपितम् । यदि त्वात्मनीत्यात्मन्यपीति च जीवात्मैव व्याख्यायते तस्य "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः । यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । ममैवांऽशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इत्यादिवाक्यैरणुत्वेन सिद्धान्तितत्वात् "यस्तु सर्वाणि भूतानी"ति व्यापकत्वोक्तिर्न स्वतः सम्भवति । भगवज्ज्ञानसेवाभ्यां भगवदावेशे व्यापकत्वमणोरपि तस्य भवति । तथा सत्येव तथोक्तिस्तत्रोपपद्यते । तदा यो भगवज्ज्ञानभक्तिभ्यामात्मन्याविर्भूतभगवत्कतयाऽभिव्यक्तानन्दांश इत्यर्थः । आत्मन्येव । भगवदावेशेनाऽभिव्य-

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

भक्तिप्राप्यैव । नाऽन्यथा । तेन तत्प्राप्तिरेव मृग्या । न स्वातन्त्र्येण भगवत्प्राप्तिः । स्वतः सिद्धत्वादित्युक्तमेवाऽर्थं भूतवन्निर्देशेन स्पष्टमेवाऽभिधातुं भगवत्स्वरूपं भक्तस्वरूपं च फलप्राप्तिसामयिकं वक्तुं भक्तियोगश्च तदानीन्तनं स्वरूपतो दर्शयितुमाह—स पर्य्यगादित्यादि । सः । शोकमोहादिरहितः सर्वात्मभावाख्यपरमकाष्ठापन्नभक्तिमाननुग्रहबलविचारनिमग्नस्तदेकशरणोऽलौकिकसामर्थ्यः । परि । अविद्यावद्धाञ्जीवानन्तरायांश्च तांस्तान् वर्ज्जयित्वा । अविद्यावद्धजीववैलक्षण्येनाऽन्तरायाननुद्गमेन चेत्यर्थः । किञ्च । परितः । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैरात्मना च । "सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दादि"त्यादिभिः पञ्चाधिकरणसूत्रैः प्रदर्शितप्रकारेणेति यावत् । अगात् । फलत्वेन प्रापत् । "अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम" इत्युक्तेः । किं तत् । शुक्रमित्यादिविशेषणयुक्तं यत् । विशेषणानामेव प्राधान्यात्तैरेव परिस्फुटीक्रियमाणत्वाच्च न विशेष्यनिर्देशः । तच्च भगवत्स्वरूपं तल्लीलापरिकरस्तल्लीला तदुपयोगिसङ्घातश्चेत्यभिप्रायेण विशेषणानि निर्दिशति—शुक्रमित्यादिना । शुक्रम् । बीजभूतम् । आद्यम् । पुंरूपम् । अपीच्यदर्शनम् । स्त्रीभावेनाऽनुभवनीयम् । शृङ्गारवीररसप्रधानम् । भक्तजनजीवितैकनिधानम् । आनन्दरूपम् । कोटिकन्दर्पलावण्यम् । स्त्रीपुम्भावात्मकम् । चन्द्रप्रभम् । ज्योतिर्मयम् । तदुक्तम्— "बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारते"ति । "रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यमि"ति । "रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यमि"ति । "अपीच्यदर्शनं श्यामम् । प्रियः स्त्रीणामपीच्य" इति । "वीक्ष्याऽलकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् । दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षःश्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः । तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् । वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्त्तिं गोप्यो दिदृक्षित-

दृशोऽभ्यगमन्दसमेताः। पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमि"त्यादि। "कामिनीभावमासाद्य। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः। रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताऽऽविशति चित्तमपत्रपं मे" इति। "बर्हावर्हे"ति "बर्हापीडमि"ति "नटवरवपुरि"ति। "शुकायचाश्च जीवितम्"। "को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति। "कोटिकन्दर्पलावण्ये त्वयि दृष्टे" इति। "स एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स आत्मानं द्वेधाऽपातयत्। पतिश्च पत्नी चाऽभवतामि"ति। "सुधाकोटिस्वास्थ्यहेतुः। कोटीन्दुजगदानन्दी। श्रीमद्वृन्दावनेन्द्वि"ति। "ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारमि"ति च। अकायम्। कायो देहस्तद्रहितम्। जन्मजरामरणखेददौर्गन्ध्यादिनिश्शेषदेहधर्मरहितमित्यर्थः। केवलानुभयानन्दस्वरूपमिति यावत्। "अशरीरम्" "अपाणिपादः" "अचक्षुः" "अकर्णः" "अविजिघित्सोऽपिपासः" "अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" "विजरो विमृत्युर्विशोकः" "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" "निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा" "सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः। तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि" "वक्त्रं व्रजेशसुतयोः" "सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दम्" "उत्पाट्यैककरेण शैलम्" "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" "सोऽश्नुते सर्वान् कामानि"त्यादिविधिनिषेधात्मकपरस्सहस्रवचनकदम्बकतया प्राकृतशरीररहितमप्राकृतानन्दमयदेहमित्यर्थः। "तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि"त्यनुगृहीतैकानुभवनीयशरीरसौन्दर्य्यमिति यावत्। सामान्येन निषेधाभिप्राये अकायमित्यतावतैव चारितार्थ्ये अव्रणमस्नाविरमिति न व्यवच्छिन्द्यात्। अव्रणम् अक्षतम्। पूर्णानन्दैकतुन्दिलदेहमिति। अस्नाविरम् स्नायुभी रहितमतिसौन्दर्य्ययुक्तं नित्यकिशोरं परिपुष्टवपुष्कम्। "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्। जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा"

मूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री"ति वाक्यादित्यर्थः । शुद्धम् लौकिकवैदिकसंस्कारानपेक्षम् । ब्राह्मणाद्यधिकारेण वैदिकानां प्रवृत्तत्वात्परमात्मनश्च जीवात्मनोऽपि विविक्तत्वात् । लौकिकत्वाभावादेव न लौकिकानां स्नानवस्त्राभरणादीनामपेक्षा । "विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" "यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् । भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायये"ति वचनैः "देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल" इत्युक्त्वा "तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम् । श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् । महार्हवैडूर्य्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् । उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षते"त्युक्त्या च वस्त्राभरणादीनामपि स्वाभाविकत्वं नाऽऽरोपितत्वमागन्तुकत्वञ्च । तेन वस्त्राभरणादीनामपि स्वरूपत्वमेव नाऽतिरिक्तत्वम् । तथाच स्वरूपातिरिक्तेनाऽसंसर्गः शुद्धत्वमित्यर्थः । अपापविद्धम् । अघभित्त्वैकस्वभावत्वात् । "अपहतपाप्मे"ति श्रुत्यन्तरात् । "न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया" "वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः" "किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः" "नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः । तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः" "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" "पुण्यश्रवणकीर्त्तन" इत्यादिवाक्यैश्च । किञ्च । पर्य्यगात् । हे प्रेष्ठ । नाऽन्यत्र गम्यताम्मम सद्मन्येव न्युष्यताम् । यद्यदादेक्ष्यसि तत्तदेव दास्यं ते विधास्यामीत्यादिप्रकारेण विश्लेषाभावार्थं प्रार्थनारूपेणाऽन्यतो गमनोद्यतं तं वर्जयित्वा निवार्य्य परितः अगात् परिवारयामास रुरोध यथेष्टं बुभुजे च । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति श्रुत्यन्तरात् । एवं फलप्राप्तिर्निरूपिता । फलानुभवस्य फलताऽपि सेवाद्वारिकैव । तत्रापि सेवैव फलमिति दर्शयन्ती तत्प्रकारांश्च सूचयन्ती तस्या एव शाश्वतिकफलत्वमतिरिक्तफलाभावा-

र्थमाह—कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्य इति । कविः । रसज्ञः अभिप्रायज्ञः । वचसाऽपि
वशीकरणसमर्थः । विनोदवाचस्पतिः । छविच्छुरिताभिर्वाणीभिरतिमधुराभिः
सालङ्कृतिभिर्गोपवतीभिश्चित्तापहारकः । सर्वसेवाविषयकसर्वविधविविध-
रचनाचतुरतरचित्तः । सरसः स्ववद्रससर्वकृतिकः । रसाभिव्यक्तिविदग्धता-
समाराधितहृदयाधिनाथः । विशेषज्ञताविशेषासाधारणसरससर्वपदार्थसार्थः ।
सर्ववस्तुजातसरसावलोकनकलाविलासनिपुणः । मनीषी मनीषा मनश्चाञ्चल्य-
निवारिका बुद्धिः, साऽस्याऽस्तीति मनीषी । भावनैकनिरतः । विविधाभि-
लाषैकरसः । मनोरथनिमग्नः । परिभूः । सर्वासु सेवासु स्वयं तत्परो भवतीति
परिभूः । प्रभुमपि शारकीडादिषु परिभवति, तदिच्छातश्च प्रियत्वाच्च । प्रकु-
प्यते हि प्रीतिरुत्कुप्यते च हासविलासादिभी रसः समुद्दीप्यते च प्रिये विजि-
गीषोवयादिति परिभूः । स्वयम्भूः । स्वतन्त्रः । न परतन्त्रः । भगवानस्य पर-
तन्त्रो भवति । नाऽसौ तत्परतन्त्रः । तदुक्तम्—"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय
मेऽच्युत" "दौत्ये वृतः" "प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्माऽर्हणीयो विधि-
कृत्" "भगवान् भक्तभक्तिमान्" "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्" "उवाह
भगवान् कृष्णः श्रीदामानं पराजितः" "तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततो-
ऽवरुह्याऽपससार भीतवत्" "बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्"
"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति । ब्रह्मणेत्यप्रधाने तृतीया ।
"सहयुक्तेऽप्रधाने" इत्यनुशासनात् । रासोत्सवारम्भे च भगवद्वचनानां पूर्व-
पक्षीकरणं श्रीगोपीजनैः स्ववचनानाञ्च सिद्धान्तीकरणमिहाऽवधेयम् । "कृष्णा-
धीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते" इति श्रीमदाचार्यचरणवचनामृत-
श्चाऽनुसन्धेयम् । सेवकोऽपि संस्तत्तत्सेवोपकरणरूपेणाऽपि स्वयमेव भूत्वा
परिचरतीति च स्वयम्भूः । रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां भगवदीयनिष्ठानामेव
भगवद्भोग्यतानिर्णयात् । योगिनां कायव्यूहवद्भक्तियोगवतां सर्वभवनोपपत्तिः ।
अलौकिकसामर्थ्यस्य सेवाफलत्वात् । एवं फलात्मकसेवायामुक्तस्वरूपोऽधिकारी
भवतीत्युक्तम् । सेवास्वरूपमाह—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधादिति ।
प्रात्यहिकं सेवाक्रमं प्रातर्मध्याह्नसायाह्नरात्रिकालान् बाल्यकैशोरादिभावान् वसन्त-

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

ग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिरर्तूंस्तत्तद्विशेषोत्सवविशेषांश्चाऽनुसृत्य वस्त्राभरणभोज्यादीनामुत्कर्षापकर्षौ विविच्य वस्तूनां प्रियाप्रियत्वार्हानर्हत्वादिकं विचार्य्य शीतोष्णादिभावं विभाव्य च प्रेमातिप्रसरपरिस्रुतानामुपचाराणां प्रह्वीभावपुरस्सरं भगवदावेशेनोत्सवावेशेन च साभिनिवेशं स्वयं समर्पणं याथातथ्यतोऽर्थविधानम् । एवंविधायाः सेवाया उत्तरोत्तरमुत्कर्षेणाऽनुवृत्तेः कदाप्यनिवृत्तिरेवमितरैश्चेवेत्यभिप्रायेणाऽऽह—**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** । सर्वकालमिति तात्पर्य्यार्थः । शाश्वताय कालायेति वा । तेन तादृशसेवाया निरन्तरानुवृत्तिः कदाप्यनिवृत्तिश्च समाशास्येति व्यज्यते । किंवा । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शाश्वतीः समा अनुरुध्य शाश्वतीषु समासु वाऽनुरज्य याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् । न नित्यसेवार्थांस्तात्कालिकानेव याथातथ्यतो व्यदधात्किन्तु वर्षोत्सवसेवार्थानपि तांश्चोभयानपि शाश्वतकालिकानेवेति किमस्य प्रेमातिभरस्य शक्यं वर्णयितुमिति व्यञ्जितम् । तथाच श्रीमदाचार्य्यचरणाः—"वृथैव जीवनं लोके भक्तिज्ञानोत्सवैर्विने"ति । न समाभ्य इत्येव किन्तु शाश्वतीभ्यः । तेन नित्यानुवृत्तानिवृत्तसेवासिद्धिस्तत्फलत्वसिद्धिश्च ॥ ८ ॥

एवं "राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययमि"ति वचनेन प्रशंसापरमकाष्ठापदमुपानीतां परमां ब्रह्मविद्यां सफलां निरूप्य तदितराणि सर्वाण्येव मतान्तराण्यविद्याविद्यान्तरात्मकानि सङ्गृह्य प्रतिक्षिपन्ती मुख्यायाः समादरं समर्थयितुमाह—अन्धं तम इत्यादि । तत्रैके लौकायतिकादयो वेदबाह्या देहात्मवादित्वादिना पुण्यपापफलभोगानुरूपं पुनर्जन्मादि नेच्छन्ति । अन्ये वैदिकम्मन्या भाट्टप्राभाकरादयो देहाद्यध्यासेन प्रवृत्ता नाऽविद्यामतिक्रामन्ति । ते उभयेऽपि भेदोपभेदैर्विविधा यथायथं त्रिवर्गमात्रपुरुषार्थपर्य्यवसन्नाः । अविद्यामुपासते । अविद्या मोक्षप्रतिबन्धकारिणी बन्धप्रबन्धविधायिनी विवक्षितज्ञानविरुद्धा अज्ञानसम्पद् । उपासना परिशीलनमभ्यासोऽनुवृत्तिश्च । समर्थनं च स्थापनञ्च । तेषामन्धे तमसि प्रवेशः फलं भगवद्वैमुख्यजन्ये नरकादियातनापूर्णे । तदुक्तम्—"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता"

इति मनुना । भगवद्वाक्यञ्च—"प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः । न शौचं नाऽपि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते । असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् । एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः । काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः । मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः । चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः । कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता" इत्याद्युक्त्वा "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिष्वि"त्यादि । अन्यच्च—"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् । ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते" इति । इहाऽपि—"तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ती"ति । अथ ये विद्यायामेव रतास्तेऽपि बहुविधाः । केचिदविद्याया विद्यया निवृत्तिमिच्छन्ति । तथाच वचनम्—"विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयमि"ति । श्रीसुबोधिनी च—"एते हि द्वादश धर्मा देहादात्मनो वैलक्षण्यप्रतिपादकाः । तैर्ज्ञातैरहम्ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेदिति फलिष्यती"त्यादिः । केचित्कर्मणैव पुरुषार्थ इति वदन्तः कर्माङ्गतया विद्यामिच्छन्ति । "यदेव श्रद्धया करोति विद्ययोपनिषदे"ति श्रुतेः । "विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाऽविदुषो भवेदि"ति स्मृतेश्च । केचिद्विद्ययैव पुरुषार्थं मन्यमाना विद्योपयोगितया कर्म करणीयं मन्यन्ते । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती"ति श्रुतेः । "तावत्कर्माणि कुर्वीते"ति स्मृतेश्च । केचित्प्रातिस्विकात्मज्ञानमेव विद्यामुपगच्छन्ति । एवमादयोऽनेके तद्भेदाः । ते सर्वे । ततः अविद्योपासनप्राप्यादन्धतमसादपि । भूय इव । अधिकमिव प्रगाढमिव । विद्यात्मकतया अविद्याविजातीयत्वादिवेति । तमः । अज्ञानमावरणम् । प्रविशन्ति । भगवन्तं भक्तिञ्च प्रत्युत प्रद्विषन्ति । न तयोः फलसाधनत्वे वास्तवे विमृशन्ति । विमृश्य च ततो निवर्तन्ते । नाऽन्यदुपक्रमवधातुं शक्तिरवशिष्यते । परस्परोत्तरमभि-

वर्द्धमानेन तमसाऽधिकाधिकमावियन्ते । "कोशकार इवाऽऽत्मानं कर्मणाऽऽच्छाद्य मुह्यती"ति न्यायात् । उक्तञ्च—"कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण्न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु । अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टुमीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यादि"ति । इदमुक्तम्भवति । "भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहितेऽमले । अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम् । यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाऽभिपद्यते । अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज" इति हि तावत्समाधिभाषा । "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति च साक्षाच्छ्रीमुखवचनञ्च । तथाच—"साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा । तथा सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिके"ति "एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह ही"ति चेति सिद्धान्तान्नाऽविद्यानिवृत्तिमात्रं पुरुषार्थः किन्तु मायानिवृत्तिः । विषयोपमर्द एवाऽविद्याया अपि न नाशः । कुतः सा । मायामूले ह्यविद्याविद्ये । विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" इति वाक्यात् । तेन विद्योदयेऽपि संसारस्तिष्ठति । न सर्वथाऽनर्थोपशमो भवति । तत एव ज्ञानिनः संसाराद्भीतास्तिष्ठन्ति । दुःसङ्गादिना पुनः संसारोदयस्य सम्भवात् । अहं ब्रह्माऽस्मीति संसारस्य मूलावशेषस्फूर्तेश्च । उद्देश्यतयाऽहम्भावस्य भानात् । ततश्च वाक्यम्—"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती"ति । समूलाविद्यानिवृत्तिस्तु भगवत्कृपया भक्त्यैव न विद्यामात्रेण । तदा विद्योदयोऽवान्तरव्यापारः । "भक्त्या मामभिजानाती"ति वचनात् । तदाऽहम्भावोऽपि नाऽवतिष्ठते । "ता नाऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे" इति वाक्यात् । "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति । तरति शोकमात्मविद् । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते" इत्यादिभ्यश्च वाक्येभ्यः । श्रीमदाचार्यचरणाश्च करुणामभिवपुः—"विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित्सत्ययुगे पुमान् । सर्वज्ञत्वञ्च तस्येष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम् । तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर्जीवत्स्वमवदुद्धवः ।

अन्यदेवाऽऽहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ १० ॥

अविद्याविद्ययोस्तस्माद्भजनं सर्वथा मतमि"ति । ये तावत्तदिदमविदित्वा विद्ययैवाऽविद्यानिवृत्तिमिच्छन्तो विद्यायामेव रता विद्यालाभार्थं क्लिश्नन्तो भक्तिञ्च प्रद्विषन्तो वर्त्तन्ते ते अविद्यातोऽप्यत्यधिकमिव तमः प्रविशन्ति । यद्यप्यविद्याया अनर्थात्मकतया दर्शनाद्विद्यायाश्चाऽनर्थनिवृत्त्युपायत्ववेदनात्तदर्थं प्रयासाच्च तमसोऽल्पीभावोऽभाव एव वा सुवचस्तथापि समूलायास्तस्या अनुत्सादनादुपमर्दस्य सापायत्वात्क्लेशासहनादनर्थमूलस्य मूलस्य मायाया अदर्शनात्तत्समुच्छेदस्यसभावत्वानङ्गीकारात्सद्गुरूपदेशवाक्याशययोरतिवर्त्तनान्मोक्षस्याऽसिद्धेस्त्रिवर्गस्याऽप्यसाधनेनोभयतोऽपि विभ्रंशात्सर्वस्याऽस्य पर्य्यालोचनासामर्थ्येन च भूयस्त्वमिव । अन्धस्य पातो दुःखदः । परं नाऽऽश्चर्य्यम् । चक्षुष्मांश्चेत्पतेद्यदा अन्धतरः स इति दुःखमप्याश्चर्य्यमपि । तदुक्तम्—"श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नाऽन्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनामि"ति । "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय" इति च । इवेत्यन्धयमुत्प्रेक्षायाम् । उ रोपोक्तापकुकृपायाश्च । रता इत्यनयत्वमविवेकित्वं व्यभिचार आक्रोशश्च ॥ ९ ॥

एवं विद्याऽपि परमार्थविदामविद्यासदृश्येव । भक्त्यैव वस्तुतोऽविद्या निवर्त्तत इत्युक्तम् । तदेव विवृण्वती "आचार्य्याद्ध्येवे"त्यादिश्रुतेर्गुरूपदेशमात्रमिदं प्रमाणमित्याह—अन्यदेवेत्यादिना । विद्यया मायामूलया । साध्यं फलं मोक्षम् । अन्यदेव । मुख्यभक्तिमार्गीयाद्भिन्नमेव । यथासम्भवं सापायमल्पमनर्थरूपं कृच्छ्रोपगतं पातोत्तरम् । आहुः कथयन्ति । वेदविदः । न भ्रान्तैः प्रतिपन्नमशेषाविद्यानिवृत्तिरूपस्य मुख्यस्यैत्येवकारार्थः । न भ्रान्तवचनैर्निर्णयान्तैरैश्च अमितन्यमित्यवधारणं वा । तदुक्तम्—"क्लेशल एव शिष्यते" "पतन्त्यधः" "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा । सङ्घातस्य विलीनत्वादि"ति । किञ्च । निबन्धे शास्त्रार्थे—"विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति । देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि । तथापि न प्रलीयन्ते

जीवन्मुक्तगताः स्फुटमि"त्युक्तम् । अत्राऽयम्प्रकाशः । "अविद्यां निरूप्य विद्यां निरूपयति—विद्ययेति । निद्रावदविद्यापगमे न जीवस्य जन्ममरणे । तदा तस्मिञ्जन्मनि गृहीतानां देहादीनां विलयाभावमाह—देहेन्द्रियासव इति । अध्यास एव गच्छति न स्वरूपम् । प्रपञ्चमध्यपातात् । अध्यासाभावे स्थितिर्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथापि न प्रलीयन्त इति । स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानम् ।" इति । अयञ्चाऽऽवरणभङ्गः— "अविद्यामित्यादि । सकार्य्यां तां निरूप्य कार्य्यद्वारा विद्यां निरूपयतीत्यर्थः । ननु विद्यया मोक्ष एव भविष्यति चेत् कस्तर्हि भजनोपयोग इत्याकाङ्क्षायामविद्यानाशस्तया न सर्वथेति मोक्षोऽपि न तथेति वक्तुमाहुः— निद्रावदित्यादि । कार्य्यस्य सर्वथा नाशो हि समवायिनाशात् । प्रकृते च विद्यायाः सात्त्विकीत्वेन स्वजनकमायानाशकत्वाभावान्मायासत्त्वाच्चात्र सूक्ष्मरूपेणाऽविद्यायाः सत्त्वे तस्या उपमर्द एव न तु नाशः । तेन तत्कार्य्यस्याऽपि देहादिधर्माध्यासस्योपमर्द एवेति जन्ममरणाभावरूप एव मोक्षो न तु विश्वमायानिवृत्तिरूपो मोक्षः । तथाच सहेतुकस्य सकार्य्यस्य बन्धस्योपमर्दरूपोऽभावो विद्याकृतमोक्ष इति फलति । तदेति । अविद्यापगमे । अत्र देहेन्द्रियासूनां सर्वेषां निरध्यस्तत्वकथनादन्तःकरणस्य चाऽकथनादन्तःकरणं किञ्चिदध्यस्तं तिष्ठतीति ज्ञायते । पूर्वोक्तनिद्रादृष्टान्तेनाऽविद्यायाः सकारणभूतायां मायायामेवाऽवस्थानमिति च । यथा हि जाग्रदवस्थोपमर्दिता निद्रा बुद्धिवृत्तिरूपत्वाद् बुद्धौ तिष्ठति तथेति । माया चाऽत्र देहारम्भकधातुकारणभूता । तत्राऽविद्यास्थितौ तत्प्रत्यासन्नमन्तःकरणं किञ्चिदविद्या व्याप्नोतीति तस्यैव किञ्चिदध्यस्तत्वं नेतरेषामिति हृदयम् । तत्राऽऽशङ्का—अध्यासाभाव इत्यादि । देहाद्यध्यासाभावे तेषामत्यन्तविस्मरणादत्यन्तविस्मरणस्यैव च मृत्युत्वाद्देहादिस्थितिर्न स्यादित्याशङ्क्य तदभावेऽपि तेषां स्थितिमाहेत्यर्थः । किमत्र मानमित्याकाङ्क्षायां मूलस्थं स्फुटपदं व्याकुर्वन्ति—स्वबुद्ध्येत्यादि । तथा च यद्यध्यासात् स्थितिः स्याज्जीवन्मुक्ता एव न स्युः । तथा सति शास्त्रं प्रसिद्धिश्च विरुध्येत । अतस्तदभावायाऽध्यासाभावेऽपि देहादिस्थितिरङ्गीकार्य्या । तथा सति संसारनाशेऽपि प्रपञ्चस्थितेः संसारप्रपञ्चौ भिन्नावेव सिद्धाविति भावः" । एवमत्र विद्यया अविद्याभिभव एव

न तु सर्वथा नाश इत्युक्तमि"ति । एवं भेदान्तरेष्वपि फलनिकर्ष उह्यः । "अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम" इति "सोऽश्नुते सर्वान् कामानि"ति च मुख्यफलापेक्षया तन्निकर्षात् । अन्यदाहुरविद्यया । तदुक्तम् । एकादशे सप्तदशे—"यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः । स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाऽहमिति बध्यते । अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्य्या बालाऽऽत्मजात्मजाः । अन्यथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः । एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् । अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तम" इति । तथैव दशमे—"श्रुतञ्च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः । बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चाऽपि निष्फलम् । अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः । तेनाऽपि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु । इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः । भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् । स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते । गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् । स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना । क्रीडन्न वेदाऽऽत्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः । तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते । क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः" इति भगवद्भक्तिरहितधर्मानुष्ठाननिष्ठानां गतिमुक्त्वा अधर्मगतिमाह—"यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाऽजितेन्द्रियः । कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः । पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन् । नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तम" इत्यादि । तत्रैव पञ्चमे—"राजोवाच । भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः । तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम् । चमस उवाच । मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याऽऽश्रमैः सह । चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् । य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः । दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाऽच्युतकीर्तनाः । स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् । विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् । श्रौतेन जन्मनाऽथाऽपि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः । कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः । वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः । रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः । दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् । वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्य-

८ ईशा०

परेषु चाऽऽशिषः । यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः । श्रिया विभूत्याऽभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा । जातस्मयेनाऽन्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः । सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा समात्मानमभीष्टमीश्वरम् । वेदोपगीतञ्च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्त्तया । लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्याऽस्ति जन्तोर्न हि तत्र चोदना । व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा । धनञ्च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति । गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्य्यम् । यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा । एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् । ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः । पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् । द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् । मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः । ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चाऽतीताश्च मूढताम् । त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते । ये त आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः । सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः । हित्वाऽत्मायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः । तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखा" इति । भक्तेः फलन्तु "स पर्य्यगादि"त्युक्तम् । "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् । तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौरताः । त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो । स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः । भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् । कुर्व्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् । यास्यसे ह्यकुतोभयम् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता । कृष्णाधरामृतास्वादः सिद्धिरत्र न संशयः । तदप्राप्तौ वृथा मोक्षस्तदाप्तौ तद्गतार्थता । अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः । अक्षण्वतां फलमिदमि"त्यादिभिश्चोक्तम् । इति शुश्रुम धीराणाम् । ईरयन्ति ते ईराः । धियामीरा धीराः । रान्ति ते राः । धियां राः धीराः । तेषाम् । शिष्यानुग्रहशालिनाम् । याथातथ्यतस्तत्त्वविदाम् । दृढस्थिरमनसाम् । पूर्वाचार्य्याणाम् ।

विद्याञ्चाऽविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

तेभ्यो वा । पञ्चम्यर्थे शेषे षष्ठी । इति पूर्वाचार्योक्तप्रकारकं वचनम् । तथा
चाऽस्मद्गुरवोऽपि गुरुपरम्पराधिगतमेवाऽभिदधुरित्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तो-
ऽयमर्थः परमं प्रमाणमित्यर्थः । अभिप्रायज्ञानपुरस्सरञ्चाऽस्माकञ्च तेषाञ्च
श्रवणं न शब्दमात्रपर्य्यवसन्नमित्याह—**ये नस्तद्व्याचचक्षिरे** इत्युभयत्र । तस्मा-
दविच्छिन्नपरम्परया गुरुकृपालब्धेऽर्थे विचिकित्सावसरस्याऽभावान्निर्विचिकित्स-
मेव भक्तिमार्गः सर्वेण निःश्रेयसार्थिना समाश्रयणीय इति भावः ॥ १० ॥

ननु सर्वेषां परमार्थशास्त्राणां बन्धमोक्षविचारेणैव प्रवृत्तत्वादविद्याकृत-
बन्धाभावमन्तरेण मोक्षस्य वक्तुमशक्यतया मुक्तोपसृप्यत्वव्यपदेशेन भगवल्लीला-
लाभस्याऽपि तदुत्तरमेव सम्भवेन विद्योदयस्याऽवश्याभ्युपेतव्यत्वे विप्रति-
द्धमिवेदमुच्यते—अन्यदेवाऽऽहुर्विद्ययेति चेत् ? तत्राऽऽह—**विद्याञ्चेत्यादि**।
क्तिमार्गे तावन्नाऽवश्याभ्युपेयो विद्योदयो नाऽप्यविद्यापगमः । सापायोपाय-
शोपपादनात् । अविद्यासादृश्यस्याऽपि प्रतिपादनाच्च । अविद्याया एकान्ततो
नेवृत्त्यभावाच्च । मुख्यफलाभावाच्च । तेन विद्याऽप्यविद्यावन्मुख्यात्फलात्प्रच्यावि-
केव व्यामोहिकैव च । व्यामोहकमायाविनिर्मितत्वात् । विद्या हि सुख-
सङ्गेन बध्नाति । ज्ञानसङ्गेन च । "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चाऽनघे"ति "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि"ति च
वचनाभ्याम् । प्रतिबध्नाति च भक्तिम् । तदिदं "विशुद्धं केवलमि"त्येतत्प्रक-
रणे स्पष्टम् । किन्तु भगवच्छरणागतिरेवैका मृग्या । वस्तुतः सैव विद्या ।
तदभावश्चाऽविद्या । वादिप्रतिपन्नयोर्भगवद्वैमुख्यसंसृष्टयोरुभयोस्तुल्यपरिहार्य्य-
ताकत्वात् । भक्तिमार्गीययोर्भगवच्छरणागतिपुरस्सरयोस्तदङ्गभावमापितयोरु-
भयोरपि तयोराधिदैविकीत्वेन तुल्योपादेयताकत्वाच्च । भक्तिमार्गे विद्या-
विद्ययोः स्वरूपमेव विभिद्यते नाऽनुपगमः प्रसज्यत इति वृथैवाऽनुपगमशङ्केति
ज्ञेयम् । किञ्च । भगवदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिके हि विद्याविद्ये । "मायाञ्च तदुपा-
श्रयाम् । यया सम्मोहितो जीव" इत्यादिवचनात् । तयोरुद्गमापगमौ न
स्वशक्यौ साधनान्तरैरपि सर्वथा । तेन भगवच्छरणागतिरेवैका गतिर्नाऽन्येति ।

सापि न तदुद्गमापगमार्थो । किन्तु स्वतन्त्रपुरुषार्थतया भगवत्कृपार्थं भगवल्ला-भार्थञ्च । भक्तिमार्गीयत्वात् । तथात्वे तच्छेपतया तद्भङ्गप्रसङ्गात् । "भक्तेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षदानात् । भगवतस्तादृशस्याऽऽत्मत्वाच्चे"ति द्वितीयस्य षष्ठे "विशुद्धं केवलं ज्ञानमि"त्यत्र प्रकरणे श्रीसुबोधिनीवाक्यात् । उक्तञ्च–"तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे"ति । "मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यत" इति वाक्येन सर्वपुरुषार्थसाधकतया भक्तेस्त्रयोरानुषङ्गिकत्वेनाऽन्यथा सिद्धत्वेन च धर्मादिमोक्षान्तपुमर्थानामपि तथात्वेन च स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाभावाद्भक्तेरेव तथात्वाच्च । "मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः । आत्यन्तिकमपि पुरुषार्थं स्वयमुपगतं नो एवाऽऽद्रियन्ते भवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः । सालोक्य-सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः । सोऽश्नुते सर्वान् कामानि"त्यादिभि-र्वाक्यैश्च । "जय जय जह्यजामि"त्यादिप्रार्थनावाक्यान्यपि भक्तेर्भगवति शरणा-गतेश्च स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाभिप्रायाण्येव । तत्प्रतिबन्धात्मिकाया एव मायाया निवृत्तिरनेन प्रार्थ्यते न मुक्तिप्रतिबन्धात्मिकायाः । "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन" इति वाक्यात् । एतदेव "मायामेतां तरन्ति ते" इत्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् । एतदपि बहिर्मुखदशायामेव । नैकान्तत आभिमुख्ये । "माया परै-त्यभिमुखे च विलज्जमाना । विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुये"त्यादि-वाक्यैर्भगवदभिमुखे तस्याः सामर्थ्याभावात् । भक्तेन तस्या अनपनोद्यत्वाच्च । द्वितीयस्य पञ्चमे–"विलज्जमानये"त्यत्र–"सा हि भगवतो भार्य्या स्वस्य भग-वता सह निरन्तररमणार्थमन्येषां बुद्धिं मोहयति । तस्यास्तथात्वं भगवाञ्जा-नाति । अतो विलज्जमाना । ईक्षापथेऽपि स्थातुं विलज्जते । अत एव ये तत्सम्मुखास्तान्न व्यामोहयति । पृष्ठतः प्रवृत्तानेव व्यामोहयती"ति श्रीसुबो-धिनीवाक्यात् । एवमेव "ततो भूय इव ते तम" इत्यादिश्रुतेर्विद्याया अप्यविद्यातुल्यतया व्यामोहकत्वेन विद्याविद्ये अपि भक्तस्य न प्रेप्स्ये । शक्तित्वेन भगवदभिन्नत्वात् । यत्र तयोर्जननी मायैव निवर्त्तते तस्मिन्नेकान्तत आभिमुख्ये तयोः स्थातुमनवसरात् । "विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनि-र्मिते" इत्यत्र निबन्धे शास्त्रार्थे—"तेन मामेव ये प्रपद्यन्त इति वाक्याद्भक्तौ

सत्यामविद्याऽपि निवर्त्तते विद्याऽपि । अन्यथा नित्यमुक्तता न स्यादि''ति श्रीमदाचार्य्यचरणवचनात् । तस्मात्स्वतन्त्रपुरुषार्थतयैव शरणागतिः कार्य्या । सैव प्रयोजिकाऽभीप्सितावाप्तये । तदैव च नित्यमुक्तता । न मायाविद्याविद्यापगमचिन्ता विधेया । बहिर्मुखदशायामेव तच्चिन्तोदेति । न सर्वथैवाऽऽभिमुख्ये । तदाभिमुख्येनैव श्रेयं न बाहिर्मुख्येन । मायाविद्याविद्यानुचिन्तनं बाहिर्मुख्यम् । तदपहाय सर्वथा सर्वदा शरणागतिरेवैका चिन्त्या । तदेवाऽऽभिमुख्यं नित्यमुक्तता निरवशेषसकलपुरुषार्थावाप्तिश्चेति । तदेतदभिप्रेत्याऽऽह—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ स हेति । यः । भगवत्कृपाविषयोऽधिकारी । विद्याम् । अन्यैर्मोक्षकारणत्वेन समाद्रियमाणाम् । वस्तुतोऽविद्यातुल्यां व्यामोहिकां मुख्यफलात्प्रच्याविकां सापायाल्पफलाञ्चेति चकारार्थः । अविद्याम् । मोक्षप्रतिबन्धकत्वभ्रान्त्या मन्देतरैः प्रद्विष्यमाणाम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणरीत्या प्रत्युत तत्सहायिकामेवेति चकारार्थः । उभयम् । समुदितम् । मुख्यफलाप्रच्यावकत्वेन व्यामोहकत्वेन चिन्त्याचिन्त्यत्वाभ्यां तयोस्तुल्यत्वात् । तद् वेद । ब्रह्म वेद । शक्तित्वेन शक्तिमदनतिरिक्तत्वाद्भगवदभिन्नं वेद । तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वादिनोपपादितप्रकारेणेति यावत् । शरणागतिसिद्धये तदभिन्नं वेद तत्सिद्धौ चाऽप्रद्वेष्ये तदभिन्नत्वाद्वेद जानाति । अनन्यभक्तिमान्निर्गुणो भवतीति भावः । "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्" 'मां भजन्निर्गुणो भवेत्" "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने"ति वाक्यान्तरेभ्यः । सः । ह इति हर्षे । "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" इत्युक्तप्रकारेण परमाभिनन्दनमर्हति कृतकृत्यश्च भवतीति । "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । द्वितीयाद्वै भयं भवति । भयं द्वितीयाभिनिवेशतः । तꣳ ह वाव न तपतः किमहꣳ साधु नाऽकरवं किमहꣳ पापमकरवम् । आत्मानꣳ स्पृणुते ।" इत्यादिवाक्यैर्भेदज्ञान एव भयस्योक्ततया प्रतिकूलानां प्रातिकूल्यसम्भवः । सर्वस्याऽऽत्माभेदेनाऽनुसन्धाने तु आत्मनो नित्यानुकूलतया प्रतिकूलान्यपि

प्रत्युताऽऽनुकूल्यं भजन्ते भगवद्भक्तौ साहाय्यमेव समाचरन्ति च । तदस्य जातमिति महानेष हर्षावसर इति भावः । एतदेवाऽऽह—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यादिना । वस्तुतस्तावदविद्यया मृत्युं माप्नोति न तरति । "ये के चाऽऽत्महनो जनाः । पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा । आत्मानं घातयन्ति ते । पञ्चपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिमि"त्यादिवाक्यैः । किन्तु भगवदनन्यत्वेन ज्ञाता सा शरणागतस्य संसारमुत्सादयति मृत्युं तारयति । न निवर्तते । किन्तु प्रातिकूल्यमप्युदासेनाऽनुकूला भवतीत्यहो नु खलु मोमेहिमा भगवन्मार्गस्य । भक्तिमार्गे हि भक्तिरसावेशार्थं किञ्चिदध्यासो देहेन्द्रियादीनामपेक्ष्यते । अनुकूलत्वात् । अन्यथा भक्त्यसिद्धिश्च । तथाहि—"यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशया यत्कृते । सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते । एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः । श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् । वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः । स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् । द्रष्टव्यः श्रोतव्यः । पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजम् । पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना । अक्षण्वतां फलमिदम् । पानपात्रं मुखं दृशाम् । भजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः । नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः । गोप्यश्चाऽऽकर्ण्य मुदिताः । नष्टप्रायेष्वभद्रेषु । शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् । तदध्यासोऽपि सिद्ध्यति । पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः । ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः । त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयादि"ति । प्रथमस्य द्वितीये "नष्टप्रायेष्वि"त्यत्र "धृता एव कामादयो न नाशिता इति कचित्कचित्तेषां सत्त्वं प्रतीयते । श्रवणे आग्रह इव प्रतिबन्धे क्रोध इव सत्सङ्गे लोभ इवेत्यादि बोधयितुं प्रायग्रहणम् । तथाच तेषां प्रतिबन्धकत्वाभावाद्भगवत्कथाया नित्यं श्रवणम् । भगवद्भक्तानां च सेवनं नित्यं भवतीत्याह—नित्यमिति । पूर्वं कथायाः श्रवणमेव । इदानीं देववत्सम्भावनमिति सेवार्थः ।" इति श्रीसुबोधिनी च । "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"त्युक्तिश्च । तथा च

अविद्यया भगवदभिन्नत्वाज्ञानेनैकान्ततः शरणागतौ प्रपत्त्यर्पितेन भगवदनुग्रहेण शिथिलीकृतया निवृत्ताखिलदोषया प्रवृत्ताखिलगुणया तत्तत्परतासाधिकया मृत्युं तीर्त्वा निवार्येत्यर्थः । विद्यया खलु मृत्युस्तार्यस्तथापि नाऽकुतोभयो भवति । अविद्योदयप्रसङ्गात् । तदशक्यमपि भक्तिमार्गीया अविद्या विधत्त इति किं वाच्यं भक्तिमार्गे प्रकर्षस्य मुख्यत्वस्य चेति । अविद्ययेत्युक्त्या वेदान्तादिश्रवणेन ज्ञातस्य ब्रह्मत्वस्य ब्रह्मधर्माणाञ्च न्यग्भावेन लौकिकधर्मपुरस्कारिणा स्नेहेन ज्ञानविरुद्धेनाऽविद्यात्मकेनेति । प्रेमाविद्ययेति स्नेहोपचारेणेति च यावत् । तदैव तथैव च भक्तिमार्गस्वरूपसिद्धिर्नाऽन्यथेति । मृत्युं तीर्त्वा । जन्ममरणातिगो भूत्वा । विद्ययाऽमृतमश्नुते । विद्याऽपि वस्तुतो जन्ममरणादि न निवर्त्तयति । तदुपपादितम् । तयाऽपि भगवदभिन्नत्वेन ज्ञातया भक्तिमार्गीयया सम्मुत्सृष्टसायायाल्पफलदोषया विद्यया भगवति सर्वेतरविलक्षणभक्तिमार्गीयधर्मवत्तत्तत्सेवाप्रकारतत्समाराधनफलादिविषयिण्या प्रेमविद्यया । अमृतम् । "अधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः" "वितर वीर नस्तेऽधरामृतमि"त्येवं सुरूपमकैरभ्यर्थितं भगवदधरामृतमश्नुते । "सोऽश्नुते सर्वान् कामानि"ति श्रुत्यन्तरोक्तान् सर्वान् कामान् वा । एकवचनं सर्वेषां मधुरतमत्वेनैकरूप्याभिप्रायं परोक्षाभिप्रायञ्च । "परोक्षवादो वेदोऽयम्" "परोक्षप्रिया वै देवाः" "परोक्षञ्च मम प्रियम्" "मधुराधिपतेरखिलम्मधुरमि"त्यादिवाक्यैः । भजनानन्दमिति पर्यवसितोऽर्थः । विद्यया । अष्टाक्षरमहामन्त्रपञ्चाक्षरैरुपदिष्टार्थरूपया । श्रीमदाचार्यचरणव्याख्याततयाथातथ्यवेदादिप्रमाणचतुष्टयतदविरुद्धसकलशास्त्रसिद्धया । "मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः । अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वमि"त्यादौ परिस्फुटनिजविलक्षणस्वरूपया । पुष्टिमार्गीयया । भगवदनुग्रहैकलभ्यया । तदनुग्रहसमिद्धया । अश भोजने । आत्मनेपदं छान्दसम् । विशेष आनन्दमयाधिकरणे भाष्यप्रकाशयोः स्थितस्तत एवाऽवसेयः । तस्मात्सुष्ठूक्तम्—"अन्यदेवाऽऽहुर्विद्यये"त्यादि ॥११॥

नन्वविद्याविद्ययोस्तमःप्रवेशः फलमिति यदुक्तं तन्न युक्तम् । "धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणामि"ति वेदविहितानां शिष्टपरिगृहीतानाञ्च तेषामविद्याविद्ययोरन्तर्गतस्य तमःप्रवेशफलकत्वकथनेन तयोः प्रतिक्षेपस्य च

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬ रताः ॥१२॥

सर्ववेदार्थविरुद्धत्वादिति चेत्तत्राऽऽह—अन्धं तम इत्यादि । अयमभिप्रायः । न वेदार्थविरुद्धमुच्यते । न मनीषिणां पुरुषार्थाः प्रतिक्षिप्यन्ते । नाऽविद्याविद्ययोरन्तर्भावस्तेषां तमःप्रवेशफलकत्वकथनायाऽऽरभ्यते । नापि चाऽविद्याविद्ये प्रतिक्षिप्येते । किन्तु भक्तिमार्गीयाविद्याविद्यातः पृथग्भूते एव ते प्रतिषिध्येते । तयोरसम्भूतिसम्भूतित्वाभ्यां व्यवच्छिन्नत्वात् । न हि ब्रह्मविदामसम्भूतिसम्भूतिरूपाभ्यां ते अभिमते । तन्मते भक्तिमार्गतदनादरयोरेव सम्भूत्यसम्भूतित्वात् । न विद्याविद्ययोः । ब्रह्मानतिरिक्तयोस्तयोर्भक्तिमार्गेऽभ्युपगमो न तदतिरिक्तयोरन्येषामिव । तयोस्तु सम्भूतिरूपत्वं केवलम् । तच्च न स्वतन्त्रम् । किन्तु भक्त्यन्तःपातित्वात् । तदुपपादितं प्राक् । तेनोक्तानां पुरुषार्थानामपि भक्तिमार्गातिरिक्तानामेव प्रतिक्षेपो न भक्तिमार्गीयाणाम् । भगवद्भक्तावेव वेदानां तात्पर्य्यम् । नाऽतिरिक्तेषु पुरुषार्थेषु । तदिदं व्यवस्थितं मर्यादापुष्टिभ्यां यथायथम् । "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते । नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः । कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिरि"त्युक्तेः । "पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवमि"ति सूत्रचतुःश्लोक्यां सिद्धान्तोक्तेश्च । "नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिरि"ति भक्तिरहितानां केवलानां कर्मणां व्युदासमुखेन कथनात्प्रावाहिकत्वं दर्शितम् । कर्मभिरित्युपलक्षणं भक्तिरहितस्य केवलस्य ज्ञानस्याऽपि । "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रता" इति तद्गर्हणात् । तथाच तमःप्रवेशफलकत्वं प्रावाहिकयोरेवाऽविद्याविद्ययोरुच्यते । मार्य्यादिकयोः पुष्टिमार्गीययोस्तु तयोर्यथायथं भक्त्यङ्गभूतयोर्भक्तिव्यापारभूतयोश्च श्लिष्टप्रयोगेण मुक्तिफलकत्वं भवत्येकफलकत्वञ्चैव सङ्गृह्य श्राव्यते—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत" इति । पुष्टिमार्गीयाणां मर्य्यादामार्गस्याऽपि तथोपयोगाभावात्तु मुख्यपक्षोऽत्र व्याख्यातः । विस्तरस्त्वाकरेभ्योऽवसेयः । भगवल्लीलारूपायाः सृष्टेः पुष्टिप्रवाहमर्य्यादाभेदे-

अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ १३ ॥

त्रैविध्यात्त्रिविधानप्यधिकारिणोऽनुगृह्णंस्तत्र तत्र प्रावाहिकानपि पुरुषार्थान् वेद एव निरूपयति यद्यपि तथापि भगवद्भक्तावेव तात्पर्यान्न प्रच्यवते। लीलानिरूपकत्वात्। अनुचरत्वात्। "कचिद्भयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगम" इति वाक्यात्। तस्मात्प्रावाहिकयोरेवाऽविद्याविद्ययोस्तमःप्रवेशः फलं तयोरेव च प्रतिषेधः। पुरुषार्थानामपि तादृशामेव तिरस्कारः। तेन न कश्चिदप्यव्यवस्थानावसर इति सर्वं चतुरस्रम्। तदेतदुच्यते—अन्धं तमः प्रविशन्तीत्यादिना। सम्भूतिः प्रवाहिको मोक्षो वादिबुद्ध्यनुसारी। भवतेर्भावे क्तिन्। भवनं भूतिः। सम्यग्भूतिः सम्भूतिः। जन्ममरणराहित्यं प्रागुपपादितस्वरूपं सम्यक्त्वम्। तदतिरिक्ता आसुरी सम्पदसम्भूतिः। विनाश इति यावत्। उक्तवादिबुद्ध्यनुसारेणैवैव। नाऽऽसुराभिप्रायेण। तेषां बुद्ध्या त्रिवर्गस्यैव केवलस्य सम्भूतित्वात्। नापि स्वाभिप्रायेण। तथा सति सम्भूतेस्तमःप्रवेशफलकत्वकथनायोगात्। वदतो व्याघातेनाऽनौचित्यात्। स्वप्रक्रियानुसारेण तयोर्द्वयोरपि सम्भूतिताया अभ्युपेयमानत्वाच्च। अन्याभ्युपगतयोर्द्वयोरप्यसम्भूतिताया अभिप्रेयमाणत्वाच्च। स्वतन्त्रपुरुषार्थतया भक्तेरेव वस्तुतः सम्भूतित्वाभ्युपगमाच्च। तयोः फलकथनं तु स्वाभिप्रायेणाऽज्ञानुमहार्थम्। तेन स्वाभिमतयोः प्रकारान्तरापन्नत्वमुक्तम्। पूर्वं कारणभूतयोर्विद्याविद्ययोस्तमःप्रवेशः फलमित्युक्तम्। इह तत्कार्ययोस्तमःप्रवेशः फलमित्युच्यते। पर्यवसानत आरम्भादपि च। तदर्थमेव "अन्धं तमः प्रविशन्ती"ति पुनः पृथगनुवादः ॥ १२ ॥

प्रकृतेन सङ्गमयन्ती फलितमनुवदति—अन्यदेवाऽऽहुरित्यादिना। सम्भवात्। सम्भूतेः। भगवद्भक्तिरहितया केवलया विद्यया साध्यात्त्रिसम्बोधात्मकाच्चत एव तमःपर्यवसन्नान्मोक्षादित्यर्थः। अन्यदेव। अतिविलक्षणमेव भक्तिमार्गीयं फलं साधनञ्च मोक्षादप्युत्कृष्टतममाहुः। भक्तिमार्गीया हि नैकान्ततोऽध्यासनिवृत्तिमिच्छन्ति। प्रत्युत सङ्घातमपि वाञ्छन्ति। तथाहि—

"तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्" "विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः" "प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्" "देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् । मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्" "अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्त्तिं शार्ङ्गधन्वनः । गायन् माद्यन् गिरा तथ्या रमयत्यातुरं जगत्" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" "अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः" "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः" "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः" "आप्यायन्तु ममाऽङ्गानि" "सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात्" "ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वम्" "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा । सङ्घातस्य विलीनत्वाद्भक्तानां तु विशेषतः । सर्वेन्द्रियैस्तथा चाऽन्तःकरणैरात्मनाऽपि हि । ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते" इति । न चैतावता तेषां संसार इति वाच्यम् । अन्यदाहुरसम्भवात् । असम्भवः । असम्भूतिः । संसारेण विनाश इति यावत् । तस्मादन्यदाहुः । अतिविलक्षणमाहुः । नित्यमुक्तत्वात् । अविद्याविद्ययोरुभयोरपि निवृत्तत्वात् । तदुक्तम्—"भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः । मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे । नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः । तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् । यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः । मुक्तः प्रतिज्ञानात् । सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दादि"ति । किञ्च । नित्यमुक्तस्य ब्रह्मणः सृष्टिकरणं श्रीशिवस्य तादृशस्य संहार-

करणं व्यामोहकमतप्रवर्त्तनञ्च प्रियव्रतस्य ध्रुवस्य प्रह्लादस्य राज्याधिरोहणं पाण्डवानां द्रोणादिहननं राज्यकरणञ्चेत्यादि च सर्वमत्रोदाहरणम् । "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण" इति श्रीमुखवचनं "त्वयाऽहं तोषितः सम्यग्वेदगर्भ सिसृक्षया । चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनामि"ति च श्रीमुखवचनं "अयमेवाऽस्मिञ्छास्त्रे मुख्यः सिद्धान्तः । यो भगवत्कर्त्तव्यं करोति महता प्रयत्नेन स मुख्यः । यस्तु भगवत्सेवां करोति स मध्यमः । यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सोऽधम इति । ब्रह्मणा स्वार्थः पक्षः कृत इति भगवानतितुष्टः । तदाह–सम्यगिति । कथं ब्रह्मणाऽयमर्थो ज्ञात इति तत्राऽऽह–वेदगर्भेति । वेदा गर्भे यस्य । वेदानामिदमेव तात्पर्य्यं यद्भगवत्कार्य्यं कर्त्तव्यमिति । अत एव सर्वत्र–प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति । ऋतवो वै प्रजाकामाः प्रजां नाऽविन्दन्त । तेऽकामयन्त प्रजा१ सृजेमहि प्रजामवरुन्धीमहि प्रजां विन्देमहि प्रजावन्तः स्यामेति । अग्निहोत्रं जुहोति । यदेव किञ्च यजमानस्य स्वं तस्यैव तद्रेतः सिञ्चति प्रजनन इति । अन्यथा लौकिकार्थपरत्वे वेदानामनुवादकत्वेनाऽप्रामाण्यं स्यादि"त्येषा तत्रत्या श्रीसुबोधिनी च द्रष्टव्या । "कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय । नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव । व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या । कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु" इत्यादीनि वचनानि "सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह । तथात्वं येन संसिद्धयेत्तदर्थं व्यास उक्तवान् । श्रीभागवतमत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम् । तस्याऽपि तत्त्वं येनैव सिद्धयेदिति विचार्य्य हि । अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत् । तत्राऽपि येन संसिद्ध्येद् व्याख्यानं तन्निरूप्यते । तस्यैवाऽऽत्मानुभावप्रकटनहृदयस्याऽऽज्ञया प्रादुरासीद्भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणस्तं प्रपद्ये हुताशमि"ति सिद्धान्ताद् "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्पिता । मदर्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहृत्य चोद्यम" इत्यादीनि च वचनानि तत्र तत्राऽनुसन्धेयानि । तस्माद्भक्तिमार्गो मोक्षादप्यति-

**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥**

विलक्षणः संसारादप्यतिविलक्षणः स्वतन्त्रो मुख्यो महाफलः सर्ववेदार्थभूतश्चेति स्थितम् । शेषं प्राग्व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

सम्प्रति कथमेष भक्तिमार्गः प्राप्यः । कथमन्यत्र तमःपर्यवसन्नयोरनर्थरूपयोरसाधनयोश्चाऽत्र साधनीभावः । कथञ्च तेजस्तिमिरवद्विरुद्धस्वभावयोरैकाधिकरण्यमित्याकाङ्क्षायां ब्रह्मवादद्वारा सर्वमिदमुपपन्नमित्यभिप्रायेणाऽऽह—सम्भूतिमित्यादि । अयमर्थः । ब्रह्मैव तावद्रमणेच्छया स्वयमेवोपादानं स्वयमेव च निमित्तं भवदविकृतमेवाऽखिलजगद्रूपेण परिणमति । तेनाऽखिलमपि जगद्ब्रह्मात्मकम् । न ततो भिन्नम् । एवंविद्धयमतिवर्त्तते । अनेवंविदस्तु मृत्युर्भवति । अद्भुतकर्मत्वं सर्वशक्तिमत्त्वमात्मत्वं नियामकत्वमधिपतित्वं बन्धमोक्षाधीशत्वं श्रेयस्त्वं मेयस्त्वं शरणीकरणीयत्वं भजनीयत्वं विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वमसाधनानामपि साधनीभावसम्पादनसामर्थ्यं च तस्य तावता व्युत्पन्नम् । जगतश्च सर्वस्य तदधीनोत्पत्तिस्थितिसंहृतिकत्वम् । एवमादिस्वरूपो ब्रह्मवादः । तथाच माहात्म्यज्ञाने सत्यात्मत्वात्परमस्नेहोदयावश्यम्भावाद्दृढभक्तिमार्गलाभः । सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि लोकदृष्टपरस्परविरोधानां धर्माणामविरोधेन स्थितेरावश्यकत्वात्तदभेदाध्यवसाये भक्तिमार्गीयस्य ब्रह्मभूतत्वेनोभयत्रोभयोरविरोधेन स्थितिसम्भवान्न काचिदनुपपत्तिः । तथा सत्यप्राकृतत्वे तयोः प्राकृतीभ्यां ताभ्यां सामानाधिकरण्यविघातकदोषराहित्यलक्षणं परस्परानुकूल्यलक्षणञ्च वैलक्षण्यम् । अद्भुतकर्मत्वादसाधनानां साधनीकरणात्तयोरप्यसाधनयोः साधनीकरणं नाऽनुपपन्नम् । तच्च शोधनादिसंस्कारैर्लोहाभ्रकादीनां दोषनिराकरणेन गुणोत्तेजनवदविद्याविद्ययोर्ब्रह्मवादसंस्कारेण संसारतन्निवृत्तिरूपफलासक्तिजनकाख्यं दोषं निराकृत्य भगवदासक्तिजनकतारूपगुणोत्तेजनम् । तथाहि । भगवत्कृपया सत्सङ्गलाभे ब्रह्मवादश्रवणेन तत्सङ्गिसङ्गलाभे वा रूपौदार्यादिगुणश्रवणेन वा भगवत्तन्मार्गयोः सञ्जायमानया भक्तिप्रथमावस्थापन्नया रुच्याऽन्यत्र फलान्तरे मार्गान्तरे चाऽऽसक्तिः शिथिलीभवन्ती शनैस्ततो निवर्त्तते । भगवत्तन्मार्गयोः प्रचुरा भवति च । नाऽविद्याविद्ययोः स्वरूपतो

दोषः । किन्तु फलतः । तथा सति दोषापगमे स्वरूपाज्ञानदेहादिचतुष्टयाध्यासाख्यपञ्चपर्वणां प्रत्युत निरतिशयभगवदासक्तिजनकतया गुणोत्तेजनाच्च तेषां हेयत्वं प्रत्युतोपादेयत्वमेवेति प्राञ्जलमेतत् । स्वरूपाज्ञानं हि भगवत्स्वरूपादन्यत्राऽऽसक्तिजनकं दुष्टम् । न भगवत्स्वरूपलाभेऽन्यथैव सिद्धेऽपि । व्रजलीलायां स्वयं भगवता सौन्दर्य्यमाधुर्य्यादिभिस्तत्सन्निसङ्गेन तच्छ्रवणादिभिश्च मूढानां व्रजवासिनीनां स्वस्मिन्मनआकर्षणात्स्वरूपलाभे सति वेदान्तोक्तस्वरूपाज्ञानं फलस्याऽन्यथासिद्ध्यैव निवृत्तिं नाऽपेक्षते । तन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते । न च स्वरूपतो ज्ञानद्वारैव भगवत्स्वरूपलाभः फलमिति वाच्यम् । तावतैव तन्निवृत्तिं विनैव ब्रह्मप्राप्तेरुपवर्णनात् । "ब्रह्म मां परमं प्रापुर्मत्स्वरूपाविदोऽबला" इति वाक्यात् । तथा सति पश्चान्नान्तरीयकं स्वरूपज्ञानमपि जायते न वेत्यन्यदेतत् । फलस्याऽन्यथैव सिद्धत्वात् । "पूर्वमपदि"ति श्रुतेः । तेन "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिश्रुतयो मर्य्यादापरा भवन्ति । तदिदं "गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध" इत्यधिकरणे व्यवस्थापितं श्रीमद्भिर्व्यासचरणैः । मर्य्यादायामपि भक्तिमार्गे—"अविजिघत्सोऽपिपासः" "अविनाशी वा अरे अयमात्मे"त्यादिश्रुतीनां सङ्कोच आवश्यकः । अन्यथा प्रेमसेवाया अनवसरापत्तेः । भक्तिपरिपाके स्वरूपज्ञानमप्यवान्तरं भवतीति भवतु । तस्मात्स्वरूपाज्ञानं विगाढभावजननद्वारा भक्तिमार्गोपकारकम् । श्रावयति हि—"विनाशेन मृत्युं तीर्त्वे"ति भगवदत्यन्तस्मृतिसन्ततिजननद्वारा स्वरूपाज्ञानादीनां मृत्युतारकत्वम् । भगवदत्यन्तविस्मृतेरेव मृत्युत्वस्य परिभाषितत्वात् । "विषयाभिनिवेशेन नाऽऽत्मानं यत्स्मरेत्पुनः । जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरि"ति वाक्यात् । जन्मसहचरित एव वा मृत्युः । "कामाद्गोप्यो भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपा" इत्यादिवाक्येन स्वरूपसम्बन्धमात्रेण पुरुषार्थसिद्धिरनर्थनिवृत्तिश्च स्वरूपाज्ञानादिनिवृत्तिनिरपेक्षतया साध्यते । एवं विद्याऽपि पूर्वोक्तया रीत्या भगवद्रुचौ जातायां भगवदितरेषु मोक्षान्तपुमर्थेषु वैराग्यजननेन अन्यत्राऽऽनात्मत्वप्रतीतिपूर्वकेण भगवन्मात्र आत्मत्वनिश्चयेन साङ्ख्येन भगवति चित्तनिरोधात्मकेन योगेन भगवद्विरहात्मकेन तपसा भगवति परमस्नेहाख्यया भक्त्या च भक्तिमार्गमुपकरोति । न भगवद्व्यतिरेकेण

ज्ञानमोक्षादौ सञ्जयति । तथाचैवं ब्रह्मवादसिद्धान्तस्वीकारेण सर्वाशङ्कापङ्कापगमे न कश्चिदपि सन्देहावसरः । तदिदमाह–**सम्भूतिमित्यादिना** । यः । भगवत्कृपाविषयः प्रावाहिकेभ्यो व्यवच्छिन्नः । सम्भूतिम् । मोक्षम् । विद्याकार्य्यं प्रावाहिकम् । तमःप्रवेशसमुच्चयार्थश्चकारः । विनाशम् । असम्भूतिम् । अविद्याकार्य्यं जन्ममरणपरम्पराजनकं देहगेहाद्यासक्तिरूपं संसारम् । अन्धतमसप्रवेशसमुच्चयार्थश्चकारः । उभयम् । भक्तिमार्गदृष्ट्योभयोरपि तुल्यद्रष्टव्यताकत्वेन समुदितं द्वयम् । तद् । भगवदभिन्नं भगवदिच्छाधीनतया स्वयं निर्दुष्टं हेयोपादेयतयोरविषयं भगवद्वैमुख्यसांमुख्याभ्यां व्यवस्थितहेयोपादेयताकं भक्तिसाधकं भक्तावावश्यकं भगवत्समाराधनसाधनभूतं स्नेहश्रद्धाचातुर्य्यादिपर्य्यवसन्नम् । वेद । जानाति । सह । भगवद्वैमुख्ये द्वयोः सहैव युगपदेव हेयत्वं भगवत्साम्मुख्ये च सहैव युगपदेवोपादेयत्वम् । पदच्छेदो वा पूर्ववत् । सः । हेति हर्षे । कुपथपरित्यागेन शुभपथप्राप्तेः । विनाशेन । प्रावाहिकविद्यावत्समयप्रसिद्धेन जन्ममरणपरम्पराप्रवर्त्तकेन स्वरूपाज्ञानादिनिबन्धनेन । विरोधिनाऽपि । हेयेनाऽपि । अद्भुतकर्मत्वानुसन्धानार्थमेतत् । भक्तिमद्दृष्ट्या च वस्तुतो भगवदतिरिक्तेषु विषयेषु रागविनाशेन भगवत्तत्परतापर्य्यवसायिना । देहगेहाद्यासङ्गेन । मृत्युम् । अविद्यावतां चक्राकारेण पुनः पुनर्नोप्राप्तम् । भगवद्विसरणात्मकं लौकिकञ्च । तीर्त्वा । व्यपोह्य । सम्भूत्या । प्रावाहिकविद्यावतो दृष्ट्या मोक्षत्वेनाऽभिमतेन विद्याकार्य्येण । भक्तिमद्दृष्ट्या हेयेनाऽपि । अद्भुतकर्मत्वानुसन्धानार्थमित्येव । वस्तुतो भक्तिमद्दृष्ट्याऽनन्यभक्तिभरेण भगवदनुग्रहजन्येन साकारब्रह्मवादसिद्धान्तस्वीकारद्वारा सम्पादितेन । अमृतम् । सालोक्यादिलक्षणं मोक्षं च कथामृतं च परमप्रेमामृतं च भगवल्लीलासाक्षात्कारामृतं च भगवल्लीलालाभामृतं च भगवदधरामृतं च । अश्नुते । अभिनिविष्टः सन्नास्वादयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

एवमीशाऽऽवास्यमित्यादिभिरष्टाभिर्मन्त्रैः साकारब्रह्मवादमुपदिश्य अन्धं तमः प्रविशन्तीति षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमतामिमतं निरस्य स्थूणानिखननन्यायेन स दृढीकृतोऽवस्योपादेयता च तस्य समर्थिता । अथा"ऽऽचार्य्यवान् पुरुषो वेद । आचार्य्यदेवो भव । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

निष्ठम् । गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये । आचार्य्याद्धयेव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति । तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् । विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः । व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाऽज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ । आचार्य्योपासनं शौचम् । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । गुरुकर्णधारमि"त्यादिभिर्वचनैराचार्य्योपासनस्य परमावश्यकत्वादन्यथा "श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः । आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः । उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।" इत्युक्तरीत्योपदेशस्य नैष्फल्यापत्तेर्गुरुकृपयैव च तत्प्रकाशेन साफल्याच्च "नाऽहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा । तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथे"ति भगवद्वाक्याद्गुरुकृपां विना भगवत्कृपाया अप्यभावाच्चाऽऽचार्य्योपासनमन्त्राननुपदिशति—हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादींश्चतुरश्चतुर्णां पुमर्थानां प्राप्तिस्तत्कृपयैव नाऽन्यथेत्यभिप्रायेण । तत्र मुख्यमाचार्य्यत्वं भगवदेकविश्रान्तम् । तथाहि । "आचार्य्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति । आचार्य्यं मां विजानीयात् । त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतम् । कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् । विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् । यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः । भूयात्स ईशः परमो गुरोर्गुरुः । न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् । कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये । अचक्षुरन्धस्य यथाऽग्रणीः कृतस्तथा जनस्याऽविदुषोऽबुधो गुरुः । त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ।" इति । तेनाऽऽचार्य्योपासनमन्त्रा भगवदुपासनमन्त्रा एव । आचार्य्यकृपापुरस्सरा हि भगवत्कृपेत्याचार्य्यधर्मपुरस्कारेणैव भगवानात्मसिद्धान्तं

ज्ञापयत्वित्यभ्यर्थनार्थो इति । आत्मसिद्धान्तं ज्ञापयंश्च भगवानाचार्य्यो भवति प्रथमतः । आचार्य्यो भवंश्च भगवत्तां तत्रोपसर्जनीकुरुते तदनुभाणनेन फलपर्य्यवसायित्वार्थम् । यदि वक्ष्यमाणान् यमत्वादीन् धर्मानन्यथाचरणशीलेषु न प्रकटयेदाचार्य्यभवनं तैर्निष्फलीकृतं भवेत् । एवं सत्याचार्य्यातिक्रमो भगवत्कोपकारणमतिघोरकठोरयथानिर्दिष्टदण्डप्रचण्डः सर्वथैव परिहर्त्तव्यः । "सदनुग्रहो मद्वानि"ति · वचनादाचार्य्यपक्षपाती भगवानाचार्य्यातिक्रमं स्वल्पमपि न क्षमते । आचार्य्यानुगान् परिरक्षति । तत्प्रतिकूलांश्च कवलीकुरुते मणाशयति । अर्वाचीनानामाचार्य्यता तत्परम्पराप्रवर्तनादिनोपचरिता । आचार्य्यानुसरणं श्रेयोर्थिनः सर्वथा सातिशयप्रयोजनम् । तथाचाऽऽचार्य्यधर्मैस्तैस्तैस्तद्भक्तैर्भगवद्धर्मैश्च तैस्तैर्भगवन्तमेवोपदिष्टार्थयाथातथ्यप्रकाशाद्यभिमतावाप्तये गुरुशिष्यावुभावप्यावश्यकत्वाच्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रार्थयमानौ प्रपद्येते । तथाच श्रुत्यन्तरम्—"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै" इति । तत्र प्रथमेन मन्त्रेण "अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेदि"ति न्यायेन भगवद्धर्मलाभतद्विज्ञानार्थाय प्रतिबन्धात्मकाज्ञाननिरासमुभयोः काम्यत्वाय तेनैव धर्मसिद्धये च तमेव चराचरगुरुं श्रीहरिं शिष्येण सह गुरुः प्रार्थयत इत्याह—हिरण्मयेनेत्यादिना । यथा खल्वतिस्पृहणीयं वस्त्वन्यो मा द्राक्षीन्मा हार्षीच्चेति हिरण्मयेन पात्रेणाऽऽच्छाद्यते । तेन हि तस्याऽदर्शनं हिरण्मयस्यैव दर्शनम् । ज्ञाते लिप्सा नाऽज्ञाते । हिरण्मयेन पात्रेणाऽऽच्छादितस्य न ज्ञानमिति न तत्र लिप्सा । हिरण्मयस्यैव ज्ञानमिति जनस्य तत्रैव लिप्सा भवेत् । स तदुपयोगेनैव कृतार्थीभूय निवृत्तो नाऽन्तर्न्यस्तमवदधीत किमस्याऽन्तर्निहितमतोऽप्युत्कृष्टमिति । लोके तत उत्कृष्टाभावात् । हिरण्मयत्वाच्च न तदपनयने सामर्थ्यं येनाऽन्तर्न्यस्तस्य ज्ञानं सम्भवेत् । भारवत्त्वाद्रक्षकैरशून्यत्वाच्च । न हिरण्मयं पात्रं शून्यमुत्सृष्टं क्रियते । तथैव तावत् सत्यस्य ईशाऽऽवास्येत्यादिभिरष्टाभिर्मन्त्रैरुपदिष्टस्य साकारब्रह्मवादापरपर्यायस्य पुष्टिभक्तिमार्गस्य मुखं मुखमिव स्थित्या मुखं द्वारं तत्प्रवेशसाधनं पुष्टिभक्तिमार्गीयगुरुद्वारा भगवच्छरणगमनम् । स्वरूपं वा । मुखमेव हि स्वरूपम् । मुख्यत्वात् । सत्यस्य भगवतो वा । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

गृचिकेत्येव सत्यम् । सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना" इत्यादिवचनशतेभ्यः । मुखं स्वरूपेण वाचा च परिचायकं समवायिनः । परिचये प्रथमोपस्थितञ्च । अव्यतिरेकि च । दर्शने पूर्णेन्दुवदत्यन्ताह्लादकम-दर्शने चाऽतिशयिततापात्मकम् । फलात्मकञ्च । वाक्पतिरूपञ्च । अग्निरूपञ्च । आचार्य्यरूपञ्च । मुखेनैव हि आचार्य्यकृत्यं क्रियते । उपदेशादिकरणात् । भगवन्मुखस्याऽऽचार्य्यतायां को विवादः । वस्तुतो मुखस्यैवाऽऽचार्य्यत्वात्तन्म-मुक्तत्वाद्भगवत्याचार्यतायाः । एते धर्मा भगवन्मुखे विराजन्ते । एत एव धर्माः साकारब्रह्मवादप्रवर्त्तकाचार्य्यवर्य्यश्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणानां मुखावता-रतां निरूपयद्भिः साम्प्रदायिकैः श्रीमदाचार्य्यचरणेषु निरूप्यन्ते । तथा सत्य-न्योन्यप्रत्यभिज्ञानजननस्य नामासतया श्रीमदाचार्यचरणस्वरूपनिरूपणमिद-मिति लभ्यते । प्रत्यभिज्ञयैव हि श्रुतदृष्टयोरैक्यमवसीयते । देशकालावस्था-दिभेदेन पृथगनुभूतयोश्च । मुखावतारता श्रीमत्प्रभुचरणैर्निरूपिता । "दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः । वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि । श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः । श्रीकृष्णास्यं देवता चे"ति । "साक्षात्स्वरूप-सम्बन्धिनां स्वरूपं तत्सम्बन्धिन एव जानन्ति न त्वन्य"इति सिद्धान्तश्च श्रीम-द्यमुनाष्टकविवृतिसमाप्तौ श्रीमत्प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः । किञ्च । आत्मानुभावप्रकट-नच्छद्मनस्य भगवत आज्ञया प्रादुर्भूतैः श्रीमदाचार्य्यचरणैश्च निजजनवत्सलैः स्वस्वरूपं प्रकटनीयमेव नाऽतिगोप्यमिति तैरपि तत्र तत्र स्वस्वरूपं सूचित-मेव । तथाहि । "अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत्" "अर्थं तस्य विवे-चितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पतेरन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्री-पतिः । दत्त्वाऽऽज्ञाञ्च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि सततं व्यासस्य विष्णोः प्रियमि"ति । एवमन्यत्राऽपि । अग्निश्च मुखं वाक्प-तिश्चेत्यादि पुरस्तादुपपादयिष्यते । "तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि"तीहाऽपि मुखमाक-ट्यमेव प्रार्थ्यत इत्यवतारपर्यन्ततायां पूषन्निति सम्बुद्ध्या पुष्टिमार्गाचार्य्यता-याञ्च न प्रमाणान्तरं मृग्यम् । विशिष्योपरिष्टाद्विस्पष्टयिष्यामः । अनुभूयन्ते च संराधकैर्भगवन्मुखधर्माः श्रीमदाचार्यचरणेष्विति नाऽत्र श्रीमदाचार्य्यचरण-निरूपणतायां कश्चिदपि सन्देह इति दिक् । हिरण्मयेन पात्रेणाऽपिहितमि-

ज्ञापयत्वित्यभ्यर्थनार्थो इति । आत्मसिद्धान्तं ज्ञापयंश्च भगवानाचार्यो भवति प्रथमतः । आचार्यो भवंश्च भगवत्तां तत्रोपसर्जनीकुरुते तदनुमापनेन फलपर्यवसायित्वार्थम् । यदि वक्ष्यमाणान् यमत्वादीन् धर्मानन्यथाचरणशीलेषु न प्रकटयेदाचार्यमवनं तैर्निष्फलीकृतं भवेत् । एवं सत्याचार्यातिक्रमो भगवत्कोपकारणमतिघोरकठोरयथानिर्दिष्टदण्डप्रचण्डः सर्वथैव परिहर्त्तव्यः । "सदनुग्रहो मयानि"ति वचनादाचार्यपक्षपाती भगवानाचार्यातिक्रमं स्वल्पमपि न क्षमते । आचार्यानुगान् परिरक्षति । तत्प्रतिकूलांश्च कवलीकुरुते प्रणाशयति । अर्वाचीनानामाचार्यता तत्परम्पराप्रवर्तनादिनोपचरिता । आचार्यानुसरणं श्रेयोर्थिनः सर्वथा सातिशयप्रयोजनम् । तथाचाऽऽचार्यधर्मैस्तैस्तैस्तदङ्गैर्भगवद्धर्मैश्च तैस्तैर्भगवन्तमेवोपदिष्टार्थयाथातथ्यप्रकाशाद्यभिमतावाप्तये गुरुशिष्यावुभावप्यावश्यकत्वाच्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रार्थयमानौ प्रपद्येते । तथाच श्रुत्यन्तरम्—"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै" इति । तत्र प्रथमेन मन्त्रेण "अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेदि"ति न्यायेन भगवद्धर्मलाभतद्विज्ञानार्थाय प्रतिबन्धात्मकाज्ञाननिरासमुभयोः काम्यत्वाय तेनैव धर्मसिद्धये च तमेव चराचरगुरुं श्रीहरिं शिष्येण सह गुरुः प्रार्थयत इत्याह—हिरण्मयेनेत्यादिना । यथा खल्वतिस्पृहणीयं वस्त्वन्यो मा द्राक्षीन्मा हार्षीच्चेति हिरण्मयेन पात्रेणाऽऽच्छाद्यते । तेन हि तस्याऽदर्शनं हिरण्मयस्यैव दर्शनम् । ज्ञाते लिप्सा नाऽज्ञाते । हिरण्मयेन पात्रेणाऽऽच्छादितस्य न ज्ञानमिति न तत्र लिप्सा । हिरण्मयस्यैव ज्ञानमिति जनस्य तत्रैव लिप्सा भवेत् । स तदुपयोगेनैव कृतार्थीभूय निवृत्तो नाऽन्तर्न्यस्तमवदधीत किमस्याऽन्तर्निहितमतोऽप्युत्कृष्टमिति । लोके तत उत्कृष्टाभावात् । हिरण्मयत्वाच्च न तदपनयने सामर्थ्यं येनाऽन्तर्न्यस्तस्य ज्ञानं सम्भवेत् । भारवत्त्वाद्रक्षकैरशून्यत्वाच्च । न हिरण्मयं पात्रं शून्यमुत्सृष्टं क्रियते । तथैव तावत् सत्यस्य ईशाऽऽवास्येत्यादिभिरष्टाभिर्मन्त्रैरुपदिष्टस्य साकारब्रह्मवादापरपर्यायस्य पुष्टिभक्तिमार्गस्य मुखं मुखमिव स्थित्या मुखं द्वारं तत्प्रवेशसाधनं पुष्टिभक्तिमार्गीयगुरुद्वारा भगवच्छरणगमनम् । स्वरूपं वा । मुखमेव हि स्वरूपम् । मुख्यत्वात् । सत्यस्य भगवतो वा । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

मृत्तिकेत्येव सत्यम्। सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना" इत्यादिवचनशतेभ्यः। मुखं स्वरूपेण वाचा च परिचायकं समवायिनः। परिचये प्रथमोपस्थितञ्च। अव्यतिरेकि च। दर्शने पूर्णेन्दुवदत्यन्ताह्लादकम्-दर्शने चाऽतिशयिततापात्मकम्। फलात्मकञ्च। वाक्पतिरूपञ्च। अग्निरूपञ्च। आचार्य्यरूपञ्च। मुखेनैव हि आचार्य्यकृत्यं क्रियते। उपदेशादिकरणात्। भगवन्मुखस्याऽऽचार्य्यतायां को विवादः। वस्तुतो मुखस्यैवाऽऽचार्य्यत्वात्तत्-युक्तत्वाद्भगवत्याचार्यतायाः। एते धर्मा भगवन्मुखे विराजन्ते। एत एव धर्माः साकारब्रह्मवादप्रवर्त्तकाचार्य्यवर्य्यश्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणानां मुखावतारतां निरूपयद्भिः साम्प्रदायिकैः श्रीमदाचार्य्यचरणेषु निरूप्यन्ते। तथा सत्यन्योन्यप्रत्यभिज्ञानजननस्य नामासत्तया श्रीमदाचार्यचरणस्वरूपनिरूपणमिदमिति लभ्यते। प्रत्यभिज्ञयैव हि श्रुतदृष्टयोरैक्यमवसीयते। देशकालावस्थादिभेदेन पृथगनुभूतयोश्च। मुखावतारता श्रीमत्प्रभुचरणैर्निरूपिता। "वयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः। वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि। श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः। श्रीकृष्णास्यं देवता चे"ति। "साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं तत्सम्बन्धिन एव जानन्ति न त्वन्य"इति सिद्धान्तश्च श्रीयमुनाष्टकविवृतिसमाप्तौ श्रीमत्प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः। किञ्च। आत्मानुभावप्रकटनहृदयस्य भगवत आज्ञया प्रादुर्भूतैः श्रीमदाचार्य्यचरणैश्च निजजनवत्सलैः स्वस्वरूपं प्रकटनीयमेव नाऽतिगोप्यमिति तैरपि तत्र तत्र स्वस्वरूपं सूचितमेव। तथाहि। "अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत्" "अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पतेरन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः। दत्त्वाऽऽज्ञाञ्च कृपावलोकनपटुर्यत्प्रसादतोऽहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि सततं व्यासस्य विष्णोः प्रियमि"ति। एवमन्यत्राऽपि। अग्निश्च मुखं वाक्पतिश्चेत्यादि पुरस्तादुपपादयिष्यते। "तत्त्वं पूषन्नपावृणु"तीहाऽपि मुखप्राकट्यमेव प्रार्थ्यत इत्यवतारपर्यन्ततायां पूषन्निति सम्बुद्ध्या पुष्टिमार्गाचार्य्यतायाञ्च न प्रमाणान्तरं मृग्यम्। विशिष्योपरिष्टाद्विस्पष्टयिष्यामः। अनुभूयन्ते च संराधकैर्भगवन्मुखधर्माः श्रीमदाचार्यचरणेष्विति नाऽत्र श्रीमदाचार्य्यचरणनिरूपणतायां कश्चिदपि सन्देह इति दिक्। हिरण्मयेन पात्रेणाऽपिहितमि-

स्त्यन्वयः । हिरण्यं हि काम्येषु प्रलोभकेषु व्यामोहकेषु च पदार्थेषु प्रधानतमम् । "स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वागि"ति श्रुतेः । कलिनाऽधर्ममित्रेणाऽधिष्ठितश्चेति वैरकरं लोभानर्थमूलञ्च । "लोभोऽनृतं चौर्य्यमनार्य्यमंहो ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भ" इति कलिमनुवर्त्तमानेनाऽधर्मपूगेनाऽऽक्रान्तश्च । तत् तथाविधसर्ववस्त्वन्तरोपलक्षणम् । तन्मयेन । विविधविमोहकविषयावलीविषयकेण कामेनेत्यर्थः । निरन्तरतच्चिन्तनेन तत्प्रचुरा हि कामाः । जातावेकवचनम् । पात्रेण । पात्याच्छादनादिनाऽन्येभ्यो वस्त्विति पात्रम् । स्वरूपाख्यफलस्याऽनुगृहीतैकभोग्यतया तेभ्य एव दानायाऽऽसुरेभ्यः पारोक्ष्याय च रक्षणम् । तदर्थार्थाय भगवता वेदादिद्वारा व्यामोहकशास्त्रान्तरैश्च प्रवर्त्तितैस्तैस्तैः कामैरित्यर्थः । अपिहितम् । आच्छादितम् । निगूहितमिति यावत् । निगूढं जानन्त एव केचिज्जानन्ति । न सर्वे । येऽपि पुरुषार्थमिच्छन्ति ते वेदविहितत्वाभिमानेन प्रबलत्वाज्जालेन चाऽशक्यनिराकरणतया भूरिभारभृन्ति तत्तन्नानाकामनाभिर्मुदानां कनककान्तिकमनीयानि शास्त्राणि दृष्ट्वा मुग्धास्तान्येवाऽनुसरन्तो दृश्यन्ते न तद् द्रष्टुं लभन्ते येन तदभिवाञ्छेयुः । अथ केऽपि विरलास्तदभिवाञ्छन्तस्तानि निराचिकीर्षन्ति सत्सम्प्रदायप्रवृत्तिमिच्छन्ति ते तादृशतत्त्वाच्छादककुशास्त्रनिष्णातैः पराभूताः प्रतिनिवर्त्तन्ते । तेन भक्तिमार्गस्य च तदाचार्य्यचरणानाञ्च साक्षाद्भगवतश्च स्वरूपमतिनिगूढं न सर्ववेद्यम् । अशक्यनिराकरणानि च सर्वथा मोहकशास्त्राणि स्वभावरक्तस्य जनस्य स्वभावानुकूलानि भगवदिच्छयैव प्रवृत्तानि निरधिकारेभ्यः स्वरूपगोपनपराणि । वेदोऽपि तावदासुरेभ्यो भगवत्स्वरूपं गोपायति भगवत्परोऽपि । तदेतदुक्तम्—**हिरण्मयेनेत्यादिना** । भगवदिच्छयैव चैतत्सर्वमिति भक्तिमार्गस्वरूपावगमो न सर्वथैव जीवप्रयत्नसाध्यः । तदर्थं भगवत्कृपा चाऽऽचार्य्यकृपा चैव प्रयोजिका । न जन्मश्रुतैश्वर्य्यादि । "नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः । "धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् । धिक्कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षज !" इति स्मृतेश्च । तदेतदाह—**त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टय इति** । पुष्णात्यनुगृह्णाति

तमोऽपसारणेन मार्गदर्शनेन चक्षुरादिप्रमाणानुग्राहकत्वेन निद्रालस्यादिदोषदूरीकरणेन जाड्यनिरासेन च सविषयमिति पूषा। तत्सम्बुद्धौ—हे पूषन्। अनुग्रहैकस्वभाव। निरतिशयतेजोमय। अपरिच्छेद्यशक्ते। त्वम्। ईशः। तावका वयं त्वां शरणागताः प्रार्थयामह इति भावः। तत् हिरण्मयं पात्रम्। त्वत्स्वरूपाच्छादकं लौकिकेषु कामेषु प्रवर्तकं प्रगाढतिमिरोपमं शास्त्रान्तरमिति यावत्। अपावृणु दूरीकुरु। उच्छिन्धीति यावत्। नाऽस्योत्सादस्त्वदितरकृतिसाध्य इति भावः। तेन भगवति परमं दैन्यं निवेदितम्। "न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवधमि"तियज्जन्मादौ जुगुप्सा विरहक्लेशो "रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसा" इतियद्भक्तिमार्गलम्भार्थं वैक्लव्यञ्चाऽपि ध्वनितम्। अपाकरणेन कं पुरुषार्थं प्रेप्ससि? तत्राऽऽह—सत्यधर्माय दृष्टय इति। सत्यस धर्मः सत्यधर्मः। पुष्टिभक्तिमार्गः साकारब्रह्मवादसिद्धान्तः। स एव हि सत्यो धर्म इति सत्यश्चाऽसौ धर्मश्च सत्यधर्म इत्यपि। प्रोज्झितकैतवो धर्म इत्यर्थः। सत्यः अमायिकः। पुरुषार्थान्तरपर्य्यवसन्नो मायिकः। स च सकैतवः। अन्तर्बहिर्विसंवादः कैतवम्। प्रतारणाशास्त्रत्वात्। मायिकाधिकारेण पुरुषार्थान्तरप्रयोजनेन व्यवहारप्रवृत्तिनिमित्तेन नानाधिकारवशात्पृथक्प्रतिनियतत्वेन साधनानां क्लेशप्रचुरत्वेनाऽविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वेन फलानां फल्गुतया भगवद्वैमुख्यदूषितत्वेन च भक्तिमार्गातिरिक्ता धर्माः सकैतवाः। भक्तिमार्गस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वं तत्राऽङ्गभावापन्नानामेव धर्मत्वमन्यथा स्थितानामधर्मत्वमेवेति सिद्धान्तस्य मुख्यवस्थितत्वेऽप्यभिप्रायगोचरत्वेऽपि येयमितरेषां धर्मत्वोक्तिस्तत्कैतवमेवेति। कैतवं माया चेत्यनर्थान्तरम्। "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चाऽऽत्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः" इति वाक्यात्। मायिकश्चाऽलीकम्। भक्तिमार्गातिरिक्ता माययैव धर्मवद्भासन्ते वस्तुतस्तेऽलीकाः। भक्तिमार्गानुगृहीतास्तु ते भक्तिमार्गानुकूल्यस्वरूपेण गृह्यन्ते नाऽलीका न प्रतारणार्था इति न कश्चिदतिप्रसङ्गः। येषां हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखं तेषामेव हरिमेधसो विमुखानां ते धर्माः। धर्मत्वाध्यवसायस्तत्र तेषामेव। न भगवदीयानाम्। तस्मात्तानुच्छिन्धि। न ह्यनुच्छिन्नेषु

तेषु सत्यधर्मलाभः सम्भवति जनस्य । तथाच निरन्तराया मुख्यभक्तिमार्गप्रवृत्तिरस्त्विति प्रार्थनायां लोट् । यद्वा । मुखमपावृणु प्रकटीकुरु । त्वया मुखस्य प्रकटीकरणाभावादेव हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम् । ततश्च भगवदिच्छैव भगवदावरणे कारणम् । मुखे प्रकटीकृते तिमिरावरणं विशीर्येत । भगवन्मार्गः प्रकटं परिदृश्येत । प्रचलितश्च स्यात् । मुखेनैव ह्युपदेशादिना भगवन्मार्गो ज्ञाप्यते । यादितिमिरमपसार्य्यते । प्रवर्त्तमाने च भगवन्मार्गे भगवदावरणं नाऽवतिष्ठेत । तदुक्तं प्रथमस्य पञ्चदशे "वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहणरंहसा । भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुन" इत्यत्र श्रीसुबोधिन्याम्—"जीवात्मावरणं माया । भगवदावरणं भगवदिच्छा । तत्र जीवावरणं भक्तिसहितज्ञानेनाऽपगच्छति । भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकभगवद्विषयकपरमप्रेम्णा भगवत्सेवायां भगवदावरणमपगच्छती"ति । तदिदमनुग्रहादेव कार्य्यं जीवकृतिनिरपेक्षतयेत्याह—पूषन्निति । तथैव विज्ञापयन्ति श्रीमत्प्रभुचरणाः—"कियान् पूर्वं जीवस्तदुचितकृतिश्चाऽपि कियती भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदाने यत भवेत् । अतः स्वात्मानं स्वं निरुपममहत्त्वं व्रजपते समीक्ष्याऽसन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसैरि"ति । तथाचेह मुख्या आचार्य्यता भगवन्मुखस्यैवाऽभिप्रेयते । तदेव यादितिमिरापसरणं भगवत्सेवामार्गज्ञानं मार्गप्रवृत्तिर्भगवदावरणापगमश्च । नाऽन्यथेति । तस्य चाऽऽविर्भावः प्रार्थ्यते । स च पुष्ट्या केवलानुग्रहेण । नाऽन्यथा सम्भवतीति । तेन पुष्टिमार्गाचार्य्यत्वम्मुखस्याऽस्तीति भगवदावरणापगमरूपत्वमाविर्भावस्येति तथा सति स्वानुभावप्रकटनहृदय एव भक्तेषु कृपया भवेति पुष्टिमार्गाचार्य्यमुपसृतानां भगवल्लाभो ध्रुव इति भगवदिच्छायामन्यथा सत्यामपि पुष्टिमार्गाचार्यानुग्रहबलं प्रबलमिति पुष्टिमार्गस्य निर्विचिकित्सप्रवेश्यत्वमुत्तमोत्तमत्वं निर्विघ्नत्वमविघ्नप्रसरत्वं सुलभत्वं निस्साधनजनोद्धारबद्धपरिकरत्वमकम्पानुकम्पासम्पन्नत्वञ्चेत्यादि च व्यञ्जितमिति ज्ञेयम् । भगवति प्रार्थना च सर्वथा सफला । सुतरां भक्तिमार्गीया । "प्रार्थितः कामनां दद्यादि"ति सिद्धान्तात् । आविर्भावश्च प्रपञ्चेऽवतारपर्य्यन्त एव स्वारसिकः । सङ्कोचे मानाभावात् ।

सम्प्रदायप्रवृत्त्या प्रत्यभिज्ञानाच्च । तथाहि । "कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद्विदुषामपि । सम्प्रत्यविषयस्तस्य माहात्म्यं समभूद्भुवि । दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः । वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार ही"ति । "तस्यैवाऽऽस्मानुभावप्रकटनहृदयस्याऽऽज्ञया प्रादुरासीद्भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणस्तं प्रपद्ये हुताशमि"ति । "शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमि"ति च । अत्रोक्तश्रुत्यर्थो यथोक्तो निरूपित इत्यप्रमत्तेन मनसाऽवधेयमेतत् । किञ्च । मुखमपावृणुवित प्रपञ्च एवाऽवतारः प्रार्थ्यते । प्राकृते प्रपञ्चेऽवस्थिताभ्यां गुरुशिष्याभ्यां स्वोद्धारार्थं प्रार्थनात् । प्रपञ्च एव च प्राकृते यथोक्तवादितिमिरान्ध्यस्य विजृम्भमाणत्वात् । अनाविर्भावहेतुक एव प्रपञ्चे तथाविधानर्थोदय इति तन्निवृत्त्यर्थं तत्रैवाऽऽविर्भावस्याऽभीप्सितत्वत्वाच्च । तदिदं प्राकट्यं प्रपञ्चे श्रीमदाचार्यचरणाः । प्रसिद्धेः । यश्च सत्यधर्मः स पुष्टिमार्गः । मायिकानि व्यामोहकानि प्रतारकाणि तानि तानि मतान्तराणि हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादिपूर्वार्धार्थः । अपावरणं यदुक्तं तत्प्रादुर्भावकालमारभ्य श्रीमदाचार्यचरणचरित्रं सर्वं तत्तन्मतान्तरनिरसनदिग्विजयपुष्टिमार्गस्थापनैकरूपम् । दृष्टय इति । दृष्टिं विना परवशः परोक्तं मनुते । दृष्टिमांस्तु स्वयं परीक्ष्यैव प्रवर्तते निवर्तते च । दृष्ट्वैव पदं न्यस्यति । नाऽन्धवत्परप्रत्ययनेयः । शास्त्रश्रद्धापारवश्यात्परम्परावशाद्वा यः स्वधर्ममनुवर्तते । त्यजति वा खलवचसि विश्वस्य । नाऽसौ दृष्टिमान् । किन्तु सतां सत्त्वमसतामसत्त्वं सन्मार्गस्य सन्मार्गतामसन्मार्गाणामसन्मार्गतां परीक्ष्य श्रीमदाचार्यचरणादिस्वरूपे सर्वोत्तमत्वं सावधारणमवधार्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमप्रेम्णा भगवन्तं सेवते यः सः । तादृशी दृष्टिर्मायिकमतान्तरानिराकरणे पुष्टिभक्तिमार्गानिरूपणे च न सिद्ध्यतीति दृष्टये तत्त्वं पूषन्नपावृणुविति पूर्वेण सम्बन्धः । द्वारदर्शनाय । प्रगाढतिमिरावृतस्य दर्शनं नास्तीति । सदसद्विवेकक्षमायै दृष्टये । सम्प्रदायज्ञानाय । स्वरूपसाक्षात्काराय । श्रीमुखदर्शनेन परमानन्दात्मकफलानुभवाय । श्रीमुखात्मकश्रीमदाचार्यचरणस्वरूपयाथात्म्यदर्शनाय । "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर" इत्युक्ताय हृदयग्रन्थिभेदाय सर्वसंशयच्छेदाय कर्मक्षयाय च । कृपादृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह तेजः ।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

ननु तपश्शमदमसत्यस्वाध्यायप्रवचनादिभिः पुरुषार्थसिद्धेः किं मम प्रार्थनयेति चेत्तत्रापि त्वदानुकूल्य एव सर्वेषां साधनता नाऽन्यथेति स्वातन्त्र्येण भवानेव समाश्रयणीयः फलं च साधनं च सौकर्यात्प्रबलतमाश्च प्रतिबन्धा भवतोऽपि पराक्रमेणैव परा कार्या इत्याद्यभिप्रायेणाऽऽह—**पूषन्नित्यादि ।** अन्वयव्यतिरेकाभ्यां त्वदनुग्रहमयुक्तैव सर्वेषां साधनानां साधनता नाऽन्यथा । तस्मादनुग्रहः प्रथमं साधनम् । त्वं चाऽनुग्रहशीलः । अनुग्रहशीलो ह्यनुग्रहाभ्यर्थनां नोपेक्षते । किन्त्ववश्यमेवाऽनुगृह्णाति । वस्तुतस्त्वनुगृह्णन्नेव वर्तसे । नाऽभ्यर्थनामप्यपेक्षसे । तस्मिंस्त्वयि प्रार्थनाऽपि प्रत्युताऽपराधः । तथाप्यनुग्रहैकशीलत्वान्न तानपि प्रेक्षसेऽभिवर्षसि चाऽनुग्रहम् । बहिर्मुखा एव हि वयं क्लिश्यामः क्लिश्नीमश्च सहजस्नेहोपलालनीयं त्वाम् । न सम्मुखाः क्लिश्येम क्लिश्नीमहि च । साम्मुख्यमस्मभ्यं देहीति पूषन्निति सम्बुद्धिव्याजेन प्रार्थनम् । ननु वेदार्थविदो मन्वादयो महर्षयो धर्मादीनभ्युदयसाधनमाहुर्न तेष्वनास्था युक्ता । "यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजमि"ति श्रुतेः । इति चेत्तत्राऽऽह—**एकर्षे इति ।** अयम्भावः । यदनुग्रहानुप्राणितानेव धर्मादीनभ्युदयसाधनं स्मरन्ति तदानीं विवादाभावः । "यमेष उन्निनीषति तं साधु कर्म कारयती"ति श्रुतेः । "अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः । स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् । किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तुष्टे च तत्र किमलभ्यमि"त्यादिस्मृतिभ्यश्च । अथ स्वातन्त्र्यात् । आसुरव्यामोहायैवेति निश्चयः । "जनान्मद्विमुखान्कुरु । हिरण्मयेन पात्रेण । बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः । नाना मतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम् । यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि । अयमेव महामोहो ह्रीदमेव प्रतारणम् । यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती"त्याद्युक्तेः । वैमुख्यान्यथानुपपत्तेः । व्यभिचारान्यथानुपपत्तेश्च । "यत्करोषि यदश्नासि" "तपस्विनो दानपरा" "न मे

मक्तः प्रणश्यती"त्यादिभिर्विरोधात्। "ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति। देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चाऽमलात्मनाम्। भक्तिर्मुकुन्द-चरणे न प्रायेणोपजायते। धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्। धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तप-साऽन्विता। मद्भक्त्याऽपेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि। क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति। गतागतं कामकामा लभन्ते। प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारा-यणपराङ्मुखम्। न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवाऽऽपगाः। ब्रह्मादयस्त-नुभृतस्तमसि स्वपन्तः। न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया" इत्यादिवचनेभ्यश्च। तस्माद्भगवानेवैको वेद-वित्। तदनुग्रहादेवाऽन्ये वेदविदो न त्वन्यथा। "वेदविदेव चाऽहम्। इत्यस्य हृदयं लोके नाऽन्यो मद्वेद कश्चन। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः। नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यः। मन्मना भव। सर्व-धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजे"त्यादिवचनेभ्यः। स्ववचनानुरोधेनैवाऽन्येषां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्था। न स्वतन्त्रा। साम्मुख्यवैमुख्याभ्यां धर्माधर्मनि-र्णयः। स एष वेदार्थः। तद्वेत्ता भगवानेव। स एव स्वानुगृहीतांस्तं वेदयति कृपया। अन्यथा तज्ज्ञानमन्येषां गगनकुसुमायितमेव। तेन धर्मावबोधस्तद्वा-रणश्चाऽमायया दम्भादिराहित्येन भगवत्कृपाधीनम्। अनुगृहाण शरणागतान-स्मान्। उच्छिन्धि पापान् प्रतिबन्धकानिति प्रार्थनार्था सम्बुद्धिः—एकर्षे इति। नत्वशक्योच्छेदास्ते बलदर्पिताश्च बहवश्च मयैकाकिना। पारलौकिकश्च दण्ड-स्तेषामावश्यको नाऽन्येन कर्तुं शक्यः। यमस्तत्र प्रभवति। यमः प्रार्थ्यता-मिति चेत्तत्राऽऽह—यमेति। रावणादिभिर्यमोऽपि निर्जित एव। मृतसञ्जी-विन्यादिविद्यायोगश्च तेषामस्ति। तस्मान्न यमो यमः। किन्तु भवानेव यमः। "मृत्युः सर्वहरश्चाऽहम्। मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। मृत्युर्धावति पञ्चमः। सर्वाणि नामानि यमाविशन्ति। सर्वे देवा यत्रैकं भवन्ति। स सर्वनामा स च सर्व-रूपः। यो देवानां नामधा एक एव। इन्द्रं वृत्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वान-

माहुः । तदेवाऽग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्य्यस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापस्स प्रजापतिः । वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च । वेत्ताऽसि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप । पटवच्च । यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या । मच्छासनपुरस्कृतः । प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ।" इत्यादिवाक्येभ्यः । त्वां च तावकांश्च प्रद्विषत्सु यमवत् क्रूरस्सश्छाश्वतेपु नरकेषु तान्निक्षिप । "प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः" "क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" । भक्तांश्च तेभ्यो रक्ष । प्रह्लादादिवत् । यमादपि प्रसिद्धाद्रक्ष । गुरुपुत्रवत् । अजामिलवच्च । धर्माधर्मविवेचनाधिकारेण दुष्टदमनस्य धार्मिकसंरक्षणस्य च नाभासत्वात् । यमस्य भगवदाज्ञाधीनत्वाद्भगवतो नित्यविम्यत्त्वाच्च भगवत एव वस्तुतो यमत्वम् । तस्य तु यमत्वमौपचारिकमेव । "शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम्" इति वाक्यात् । न च "निर्दोषं हि समं ब्रह्म । समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि । नाऽस्य तत्प्रतिकुर्वन्ति वैष्णवाः प्रभवोऽपि ही"त्यादिवाक्येभ्यो नैवं प्रार्थनीयमिति वाच्यम् । भगवत्तद्भक्तद्वेषिवर्ज्जमेवाऽस्य शास्त्रार्थस्य विषयात् । तदुक्तम्—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम् । अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः" इति । किञ्च । नारायणविद्यायाम्—"हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षामि"त्युपक्रम्य—"चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत्समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम् । दंदग्धि दंदग्ध्यरिसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हुताशः । गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियाऽसि । कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षोभूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयाऽरीनि"त्यादिभिर्वचनैः प्रावाहिक्या भगवत्तद्भक्तप्रद्वेषिण्या मायिक्याः सृष्टेः प्रद्वेषे दोषाभावावसायात् । बलदर्पिताश्च बहवश्च सन्त्वन्यस्याऽशक्योच्छेदाः । न तु मृत्योर्यमस्य तथा । त्वयैव च तस्य नियमितत्वात्पारलौकिकावश्यकदण्डविधाताऽपि त्वमेव । तस्मान्मारयाऽसुरान् । निक्षिप नित्यनरकेषु । परिरक्ष च प्रपन्नान् । अन्यथा भक्तवत्सलतागुणहानिप्रसङ्ग इत्याह—यमेति सम्बुद्ध्या । नन्वज्ञाः शक्या उच्छेत्तुम् । न तु दुर्ज्ञाः ।

अतिप्रसङ्गात् । सर्वमेव हि मायस्तमसि निमग्नं जगत् । किं तत्रोच्छेद्यम् । तम एव । न जगत् । किञ्च । "एतावत्सरसि सरोरुहस्य कृत्यं भित्त्वाऽम्भः सपदि बहिर्विनिर्गमो यत् । आमोदो मधुकर इन्दिरानिवासस्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ती"तिन्यायेन मया पाषण्डिनामुच्छेदेऽपि यत्तानामतध्वान्तं जगति प्रसृतं यच्च भक्तिमार्गाननुसन्धानमुपस्थितं वेदान्तहृत्पद्मं च मुकुलितं मधुकरसदृशानां महात्मनां तदनुपलम्भासञ्चारौ च श्रियोऽदर्शनञ्च तत्सूर्य्यसदृशेनैव सर्वं निवारणीयं न मयेति चेत्तत्राऽऽह—सूर्य्येति । सूर्य्यस्त्वमेव नाऽन्यः । "भीषोदेति सूर्य्यः । सूर्य्यस्तपति मद्भयात् । तत्सूर्य्यस्तदु चन्द्रमाः । चक्षुरमूत्पतङ्गः । चक्षोः सूर्य्यो अजायत । त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणः । येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् । दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं यस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कृष्णद्युमणिनिम्लोचे धर्मः कं शरणं गतः । कोटिसूर्य्यसमप्रभः"। तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः । इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तादि"त्यादिवाक्येभ्यः । सूर्य्यस्त्वेवं शास्त्रैर्वर्ण्यते—"परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान । सुरेतसाऽदः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः । सूर्य्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा । स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः । देवतिर्य्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम् । सर्वजीवनिकायानां सूर्य्य आत्मा दृगीश्वरः । स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु ऋतुषु यथोपजोषमृतुगुणान्विदधाती"त्यादि । तथाचाऽस्माकं त्वां शरणमुपागतानां त्वमेव तमसस्पारं दर्शयिता प्राकृतत्वं परिहर्ता ज्ञानं जनयिता स्वाराधने कर्मणि प्रवर्तयिता तदुपयोगिज्ञानप्रदाता तत्फलदाता सर्वं जगद्भगवल्लीलेति बोधोत्पादयिता अविद्याभञ्जकः सङ्कल्पमात्रेणैव विचित्रः प्रपञ्चस्त्वयैव समुत्पाद्यते पाल्यते संह्रियते चेति स्वस्य निरतिशयशक्तियोगबोधनेन स्वस्मिन् भक्तियोगप्रदो जीवस्य शरणागतस्य विशोधकस्तदाकाङ्क्षितलौकिकालौकिकफलप्रदो

बुद्धिप्रेरकः शरणागतवत्सलः शरण्यः शरणीकरणीयश्च । त्वदनुग्रहाभावे तमसि निमज्जनात्सत्यपि सकलपुरुषार्थसाधिका सामग्री अप्रयोजिका । देशकालाद्युपकरणानि विफलानि । स्वर्गापवर्गनरकादिभेदाश्च विलुप्येरन् । देवतिर्यङ्मनुष्यादिसृष्टिश्च विशीर्य्येत । लोकानां स्वस्तिस्त्वदायत्ता । ऋतुगुणानां विधानं श्रियो दर्शनञ्च । त्वदाराधनार्थकृतकर्मणां विशुद्धिस्त्वद्विजिज्ञासयैव भवति । नाऽन्यथेति सर्वामङ्गलनिवृत्तिः सर्वमङ्गलप्रवृत्तिश्च त्वदधीनेति तामेतामसम्यं विधेहीति सूर्य्येति सम्बुद्ध्या प्रार्थनम् । ननु के यूयम् । कोऽहम् । कः सम्बन्धोऽस्माकम् । येनैवं प्रार्थयध्वे । तत्राऽऽह—प्राजापत्येति । वयं ते प्रजाः । त्वञ्चाऽस्माकं पतिः । यद्यपि वयमज्ञास्त्वां पतिं न जानीमः । तथापि त्वया त्वविस्मार्य्या एव । यदि वयं त्वत्कृतेषु सेतुषु न तिष्ठामस्तर्हि कृपया बोधनादिना त्वमेवाऽस्मान्स्थापय । अपराधे दण्डेनाऽप्यस्माञ्छोधय । सर्वथा त्वदीयाः स्मः । त्वञ्चाऽस्माकं सर्वथैवाऽसि । प्रजाभिस्त्वं सेवनीयस्त्वया च प्रजाः परिपालनीयाः । प्रजानां योगक्षेमौ त्वया निर्वाह्यौ । प्रजाभिश्च तदर्थं त्वमेव सेव्यः । यद्यन्यैः प्रजास्ते परिपीड्यन्ते ते निराकार्य्याः । वध्याश्च दण्ड्याश्च । यद्यनाथाः स्युः पीडां प्राप्नुयुः । न त्वेवमस्ति । नाथे सति पीडा नाथस्याऽप्ययशस्यम् । तत्तु द्रष्टुं न क्षमामहे । वयं भाग्यदोषात्पीडां प्राप्नुमस्तदेतदन्यत् । तव त्वयशस्यं भवतीति तन्मा भूत् । नन्वन्ये प्रजापतयो ब्रह्मादयो दक्षादयो नाऽहम् । तत्राऽऽह—प्राजापत्येति ण्यप्रयोगम् । प्रजापतीनां ब्रह्मादीनां दक्षादीनां प्रजापतित्वं त्वदायत्तम् । वस्तुतस्तेऽपि ते प्रजा एव । त्वत्कृतं त्वद्दत्तं त्वद्बलानुप्राणितं त्वदनुगृहीतम् । "स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयमि"ति हि स्मर्य्यते । तस्माद्यत्तेषां प्राजापत्यं तत्त्वमेवाऽसि । प्रजापतित्वं सन्मार्गे प्रवर्त्तनं कुमार्गान्निवर्त्तनञ्च । "न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान्" । प्रजापतिर्हि प्रजापरिपालने सर्वथैव सावधानः प्रजासु वत्सलस्तद्विरोधिषु चाऽत्यन्तं क्रूरः प्रमादरहितस्ताः परिपालयति । नोपेक्षते । तस्माल्लौकिकालौकिकयोः सर्वथैव निश्चिन्ता वयं त्वच्चरणारविन्दशरणागतिमुपधानीकृत्य स्वस्थं शयामहे । न शोचामः किञ्चित् । "न बिभेति कुतश्चन । स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति" । भक्तानां लज्जारक्षकस्त्वमेवाऽसि विषमेषु । नाऽन्यः । तथाच कुमा-

र्गाद्विवर्त्य सन्मार्गप्रापणं कुमार्गनाशः सन्मार्गविस्तारः प्रजापरिरक्षणं तास्वानुकूल्यं तदघोघापमार्जनं स्वसेतुषु स्थापनं कृपया तत्परिपोषणं प्रतिबन्धनिराकरणं स्वभक्तिदानं तासां सर्वविधयोगक्षेमनिर्वाहश्च त्वदेकाधीन इति तान् कुरु शिशिरया च दृष्ट्या वत्सवत्परिपाल्येत्याह—प्राजापत्येति सम्बुद्ध्या। पतिरेव प्रार्थ्यः। सुतरां प्रजाभिः। प्रार्थितः पतिर्न कुप्यति। सुतरां प्रजाभिः। पतिश्चापराधान् क्षान्त्याऽपि प्रसीदति। सुतरामपराधाभावे चाऽऽनुकूल्ये च। पातीति पतिः। तस्मान्नित्यप्रसन्नो नित्यप्रसादोन्मुखश्च पतिरुच्यते। न तु कोपादिना क्लेशकः। पतिश्च प्रियो भवति। "पतिः प्रियो भवती"ति श्रुतेः। अयञ्चाऽऽत्मा च पतिश्च भवतीत्यत "आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवती"त्यात्मसुखार्थिताऽपि नौपाधिकत्वं प्रयोजयति। अतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽभावात्। न चाऽवच्छेदकभेदः कारणम्। तत्सुखसुखित्वेन न्यग्भूतत्वादित्यन्यदेतत्। प्रियः सेव्यो भवति प्रेम्णा। प्रीतिमन्तश्च सेवकाः। सेव्यसेवकभावोऽस्माकं निर्विघ्नमसरोऽस्तु। अन्यथा न जीविष्यामः। यश्चाऽधमस्तत्र प्रतियत्नमाचरति सोऽस्माकमिव तवाऽपि प्रद्वेष्य एव। "द्विषन्तः परकाये माम्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानि"त्यादिवचनात्। तदुक्तमुक्तं प्रार्थ्यसे। त्वञ्चाऽस्यं प्रसत्स्वस्येव। इदोऽयमस्माकं विश्वास इति भावः। ननु किमर्थयध्वे तदेव विशदं कथ्यतामित्यत्राऽऽह—व्यूह रश्मीन् समूह तेज इति। यद्यपि "तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि"ति प्रार्थ्य पञ्चभिः सम्बुद्धिभिः प्रार्थनीयमर्थितमेवाऽभिप्रायनिवेदनव्याजेन तदुपयुक्तम्। तथापि व्याजोक्तिर्दैन्यकाष्ठां न गच्छतीति विचार्य्य कदाचिद्विलम्बेत। "प्रार्थितः कामनां दद्यान्नाऽन्यथे"ति सिद्धान्तस्य द्वितीयस्य धुरीये श्रीशुकभाषिते सिद्धत्वात्। तन्मा भूत्। "आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्त्तये"ति वचनात् "अथेदं भस्मान्तं शरीरमि"त्यनुपदं वक्ष्यमाणाच्च "क्षणमपि नाऽप्रयतस्तिष्ठेदि"ति धर्मशास्त्राच्च निजजनजीवातवे त्वरस्वेति निर्व्याजदैन्यप्रदर्शनपुरस्सरं प्रार्थयते—व्यूह रश्मीनित्यादिना। बलवच्चमाग्रण्योऽपि त्रिभुवनैकवीरधुरन्धरोऽपि यावन्न पराक्रमं विचारयति तावन्न क्षुद्रा उपद्रवं मुञ्चन्ति। तस्माद्रश्मीन् स्वरूपप्रकाशकानावरणनिवर्त्तकांस्तेजोमयांस्तमस उद्धारकान्द-

र्शनीयतमान्सतां प्रियान्क्षुद्राणां दाहकाज्ञाड्यालस्यादिदोषनिवारकान्सत्कर्मणि प्रवर्तकानन्तर्बहिःप्रकाशसञ्चारकानुपद्रवनिवारकान्सदसद्विवेचकान्मार्गप्रदर्शकान्देहेन्द्रियादिकरणकलापवैफल्यनिवारणपूर्वकतत्साफल्यकारकानुपकरणपापघ्नान्सत्क्रियासम्पादकान्सर्वपुरुषार्थसाधकाञ्जगदुज्जीवनानसत्कर्मविलुम्पकाञ्चौरपाटच्चरादिविलयकान्दृष्टिमदान्स्वस्वरूपास्वादात्याप्तान्प्रकाशाश्रयन्यायेन स्वाभिन्नांस्त्वदिच्छाधीनदर्शनांस्त्वदर्चनतत्सेवनतत्कर्मशिक्षकान्कृपयानिवर्त्तकान्निष्कण्टकमार्गप्रदर्शकान्पुष्टिभक्तानित्यर्थः । "पुष्टिं कायेन निश्चय" इति वाक्यात् । तेन पुष्टिसम्बन्धि यत्तत्सर्वं रश्मिपदवाच्यम् । रश्मयोऽपि हि सूर्यादेः कायादेव प्रसरन्ति । व्यूह । ऊह वितर्के । प्रार्थनायां लोण्मध्यमैकवचनम् । परगामिफलाभिप्रायेणाऽनुदात्तेत्त्वलक्षणस्याऽऽत्मनेपदस्याऽनित्यत्वाभ्युपगमात्परस्मैपदम् । "अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन" इतिवत् । वितर्को विचारः । व्युपसर्गार्थो विशेषः । स च पुष्टिभक्तिमार्गप्रवृत्त्यासुरसिद्धान्तविध्वंसानुकूल्यम् । भुवि सम्प्रदायप्रवर्त्तनं तत्तामपि च तत्र तत्र देशेषु तेषां दुष्टदमनार्थं सत्परिरक्षणार्थं स्थितिश्च विशेषः । विचारय । विचारितं हि सिद्ध्यति । किं पुनः सत्यसङ्कल्पस्य भवत इति भावः । यो व्यूहते स कर्त्तव्यनिष्ठो भवति । एकीभूतान् पुञ्जीभूतान् समुदितान् कुरु । मध्यान्हसूर्य्यवदिति भावः । धारय वा । प्रसारय वा । "ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथे"त्यादौ तथा दर्शनात् । समूह तेजः । सम् सम्यक् । ऊह विचारय । विचारपूर्विकाः खलु सर्वाः क्रियाः । तेजः=पूषन्नित्यादिभिः पञ्चभिः सम्बुद्धिभिर्निरूपितम् । दीप्तिः पराक्रमः प्रभावो वा । अनभिभवनीयं हि तेजः । तदुक्तम्— "न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया । विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिव" इति । सम्यक्त्वं समूहात्मकता । तदुक्तम्—"दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः" इति । "तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुम" इत्येवमादि च । धारय प्रसारय प्रयोजय प्रचुरीकुरु वा । यथा "तत्त्वं पूषन्नपावृणु"ति प्रार्थितौ प्रतिबन्धापगमपुरुषप्रादुर्भावौ सिद्ध्येताम् । तथाच तव विचारमात्रेणैवाऽस्माकं सर्वार्थसिद्धिः प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च । त्वं च सानुभाव-

तामेव विचारय। "तस्यैवाऽऽत्मानुभावप्रकटनहृदयस्ये"ति हि स्तूयसे। "रोपद्रवपातसम्प्लुष्टभक्तच्छिदि"ति च। रश्मीनां व्यूहने तेजसः समूहने च सानुभावता। "तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः। गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च। गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः। मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ" इत्यादिवत्। अन्यथा कथं स्यात्। सानुभावतायामेव प्रतिबन्धापगममुखप्रादुर्भावौ भवेताम्। नाऽविचारितायाम्। तौ विना रश्मिव्यूहनतेजस्समूहनयोः स्वरूपालाभात्। तदर्थमेवाऽर्थनीयत्वात्। अन्यथा व्यर्थत्वात्। नियामकाभावे नियमनानुपपत्तेश्च। प्रतिबन्धापगममुखप्रादुर्भावाभ्यामेव सम्प्रदायस्य प्रवृत्तिः परिरक्षणञ्च। तदेव रश्मिव्यूहनं तेजस्समूहनञ्च। पुष्टिभक्तिमार्गप्रवृत्त्यासुरसिद्धान्तविध्वंसानुकूल्यस्य साम्प्रदायिकेषु मुखावताराधीनत्वात्। यस्मात्त्वं पूषन्नेकर्षे इत्यादिना निरूपितनिर्णयस्तस्मात्परमार्थाच्छादकमासुरसिद्धान्तमुच्छिन्धि मुखं च प्रकटीकुर्विति निरूप्य पश्चात् रश्मिव्यूहनतेजःसमूहनयोः प्रार्थनान्मुखावतारेण निजजनपरिपालनं रश्मिव्यूहनवाच्यं तत्प्रतिबन्धनिराकरणञ्च तेजस्समूहनवाच्यं विधेहीति प्रार्थनार्थः पर्य्यवस्यति। यत्र पूषन्नित्यादिना वर्णितस्य तवाऽपरिमेयशक्तेर्विनियोगेन प्रतिबन्धनिवृत्तिस्तत्र प्रतिबन्धानां प्राबल्यमकथनीयमेव। जीवस्य तुच्छता चाऽवर्णनीयैव। साधनान्तराणामसामर्थ्यञ्च सर्वथैवाऽऽख्यम्। तव विचाराभावे त्वदीयानामस्माकं का दशा भवेत्। सर्वथैवाऽनन्यगतिकास्त्वां शरणमागताः। तस्मादस्मदुज्जीवनाय तव विचार आवश्यकः। मा स्म तिष्ठस्तिरोहितः। सर्वस्याऽस्याऽऽस्मरात्कृतस्य त्वदेकरक्षणीयस्य जनस्य प्राणजीवनधनमसि। तस्य तव तिरोधाय स्थितौ काऽस्य क्लेशकाष्ठा भविष्यति। वैरिणश्च कवलयेयुस्तदानीमेनम्। तेन प्रकटीभूय स्थितः सन् दुर्द्धर्षेण रूपेण परिपन्थिनामुरस्सु शूलं शालय जहि तानभिवर्ष च सन्तप्तेषु निजजनेषु श्रीमुखचन्द्रसुधासारानिति भावः। तदेतद्विवार्य्य व्याचष्टे—यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामीति। रूपं विवृतं कल्याणतमत्वञ्च दर्शितं हिरण्मयेनेत्यादिना समूह तेज इत्यन्तेन। गोपनीयं विमुखेभ्यः, प्रकटनीयं सम्मुखेभ्यः, प्रतिबन्धापगमद्वारा प्रदर्शनीयं, मुखात्मकं, तत एव मुख्यं, प्रादुर्भूतं, दैन्येन

शवयाविर्भावं, पुष्टिभक्तिमार्गीयैकनिष्ठं, पुष्टिमार्गीयं, परमानुग्रहपुष्टमनुग्रहान्वयव्यतिरेकव्यवस्थितसकलशास्त्रसमन्वयासमन्वयं, निजजनेषु वात्सल्यरससरसं, प्रतिकूलेषु यमकठोरं यथाव्याख्यातयमस्वरूपं विकटास्यं लल्जिह्वं नखशस्त्रं जयोत्कटमलम्भयानकं, यथोक्तसूर्य्यप्राजापत्यताकं, व्यूढरश्मिकं, समूढतेजस्कं यथाव्याख्यातं निदाघमध्याह्नदिनकरसहस्रव्यतिकरकरकरसहस्रसमुद्भासमानं भासमानातिरिक्तस्वरूपं च रसात्मकं फलात्मकं कल्याणतमं रूपमिह निरूपितम् । कल्याणतमत्वञ्च गोपनीयत्वादिना समर्थितम् । संक्षेपात्कल्याणतमं रूपं मुख्यमेव रूपेषु । मुख्यमपाश्रयेत्युपक्रमाच्च । श्रीमद्वल्लभाचार्य्यान् दर्शयेति निष्कृष्टोऽर्थः । यत् । अनुपदमुक्तमवसितञ्च हिरण्मयेनेत्यादिना समूह तेज इत्यन्तेन । ते । कृपयेति शेषः । पश्यामि । वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा । अस्मिन् क्षणे द्रक्ष्यामीत्युत्कण्ठा वर्त्तमानप्रयोगार्थः । प्रार्थनायामवसितायां साक्षात्कारो वा । यत्ते तत्ते इति द्विर्वचनं वा हर्षातिरेकात् । साधनैरलभ्यमनुग्रहैकलभ्यमलभ्यमिदं लब्धमिति हर्षोद्रेकः । पश्यामि । अनुग्रहमार्गे विलम्बानवसर इति भावः । किञ्च । पुष्णासि जन्मना बाललीलादिना भक्तानाशुत्स्वयं स्वस्मिन् स्नेहमिति पूषा पूतनातृणावर्त्तादेरागमनात्प्रागेव ज्ञानादेकर्षिस्तद्व्यथाधमः शोकव्यामोहादितिभिरापनयनेन प्रहर्षयतः प्रकाशपूर्णोदयाद्भक्तजननलिनदिनेशत्वाच्च सूर्य्यः प्रजापतेः श्रीवसुदेवस्य श्रीमजराजस्य चाऽपत्यत्वात्प्राजापत्यस्त्वं रश्मीन् गास्तदुपलक्षितान्निःसाधनान् भक्तांश्च व्यूह इतस्ततो विषयासक्तया विषयेषु प्रसक्तान् विप्रकीर्णान् त्वत्साक्षिध्याभावेन विषयासक्त्या च नियतानिष्टान् कृपया स्वसान्निध्यप्रापणेन रक्षणाय सर्वपुरुषार्थस्वरूपस्वानन्ददानाय लीलार्थं च एकीकृत्य समुदितभावेन स्वसमीपे स्थापय स्वदृष्टेरबहिर्निवेशय तेजश्च समूह सम्यक् प्रकारेण धारय येन सख्यवात्सल्यादिभावा भक्तानां नाऽपयान्ति माहात्म्यं चाऽतिशयेन विस्फुरति प्रतिबन्धाश्च शलभायन्ते सौकुमार्य्यमाधुर्य्याद्यनुभवश्च न विच्छिद्यते । तदुक्तम्—"अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः । यर्ह्येवाऽजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् । दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम् । मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा । नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः । द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः ।

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः । अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत । मनांस्यासन्प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् । जायमानेऽजने तस्मिन्नेदुर्दुन्दुभयो दिवि । जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः । विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा । मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदाऽन्विताः । मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् । निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने । देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः । तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् । श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् । महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् । उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत । स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्याऽऽनकदुन्दुभिस्तदा । कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवामि"ति । "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः । आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः । वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्माऽऽत्मजस्य वै । कारयामास विधिवत्पितृदेवार्चनं तथा । धेनूनां नियुते प्रादाद्विप्रेभ्यः समलङ्कृते । तिलाद्रीन् सप्तरत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान्" इत्युपक्रम्य "सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः । गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः" इत्याद्युक्त्वा "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृपे"ति । "नन्दः प्रमुदितो मेन आत्मानं पूर्णमाशिमान् । ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः । सह रामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम् । व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैरि"त्यादिभिस्तैस्तैः प्रसङ्गैः—पूर्वेति । "विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः" इति । "एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती । गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् । भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता । महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु" इति । "ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना । यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृत" इति । "क्वाऽप्यदृष्ट्वाऽन्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्वजित् । सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसाऽवजगाम ह"ेति । "यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देव-

हेलनमि"ति । इन्द्रयागप्रसङ्गे-"तस्माद्भवां ब्राह्मणानामद्रेश्चाऽऽरभ्यताम्मखः । हूयन्तामग्नयः सम्यग्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः । अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः । अन्येभ्यश्चाऽऽश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः । यवसञ्च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः । स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः । प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्व्वतान् । एतन्मम मतं तातेे"त्यादिभिरुपदेशै-रुद्धवार्जुनाभ्यां ब्रह्मवादोपदेशेन चैकर्षित्वम् । "राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-र्निर्व्यूहमाना निहनिष्यसे चमूः" इति "गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबदि"ति "तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया । गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम् । गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः । अव्यक्तरावो न्यपतत्सह बालो व्यसुर्व्रजे" इत्यादिभिः प्रसङ्गैर्यमत्वम् । "ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्य्यन्त यथा तमो रवेरि"ति वचनेन "गोकुलं सर्वमावृण्वन्मुष्णंश्चक्षूंपि रेणुभिरि"ति "मुहूर्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतमि"ति "नाऽपश्यत्कश्चिदात्मानं परं चाऽपि विमोहित" इत्युक्त्वा "पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वयन्धून्मणयन्नुपस्थित" इति वचनेन "जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत् । ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्य्यानलौ वायुरिवाऽभ्ररेणुभि"रित्यादिवचनैश्च सूर्य्यत्वम् । "त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति । तदाऽयं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मष" इति "द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्य्यये"त्याद्युक्त्वा "अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः । जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराऽभवदि"ति च वचनेन "ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालक" इत्यनेन च वचनेन प्राजापत्यत्वम् । "चारयामासतुर्वत्सानि"ति "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ । गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुरि"ति "पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनमि"ति "मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् । क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञये"ति "गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सह रामो जनार्दनः । वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुत" इति वचनैः "ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास"

इति श्रुत्या "रश्मयो गाव उच्यन्त" इति निरुक्ताच रश्मिव्यूहनम्। "बालं मतिच्छन्ननिजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाऽऽहितं भसी"ति "गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानि"ति "स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्याऽऽनकदुन्दुभिस्तदे"ति "अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः। स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभावविदि"ति "नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम्। सूतमागधबन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः। तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत्। विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय चे"ति पूतनावधं दृष्ट्वा अतुलिततेजोवधारणसम्भवसमयेऽपि "यशोदारोहिणीभ्यान्ताः समं बालस्य सर्वतः। रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिरि"त्यादि "नन्दादयश्चाऽद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्य्यगात्। इति ब्रुवन्तोऽतिविवादमोहिता जनाः समन्तात्परिवव्रुरार्भवत्। ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः। रुदताऽनेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः। न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत। अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुरि"ति "अहो बताऽस्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्। अप्यासीद्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतोऽभयम्। अथाऽप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः। जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवदि"ति धेनुकवधमुक्त्वा—"कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः। स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजदि"ति "तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्। वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्त्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेता" इति "पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि। तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षमि"ति च वचनैस्तेजस्समूहनञ्चेति। एवं साक्षात्परमकाष्ठापन्नस्य भगवत एव साधनत्वं फलत्वञ्चेति कथयित्वा तदुभयं भगवानेव मम भवत्विति सम्प्रार्थ्य फलत्वात्सर्वोत्तमत्वाच भगवतः सर्वरूपाणां फलत्वेऽपि सर्वरूपरूपं मूलरूपरूपञ्च यद्रूपं तत्फलतमं तदेव मे फलमस्त्विति प्रार्थयते—यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामीति। अयमर्थः। "एकोऽहम्बहु स्यां प्रजायेय। एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म। स एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। असद्वा इदमग्र

आसीत् । ततो वै सदजायत । सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यादिश्रुतिभिः सृष्ट्यादौ सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतशून्यं ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव स्वेच्छया क्रीडार्थमुच्चनीचभावेन बहुभवनादात्मसृष्टिः प्रतिपाद्यते । "आत्मैवेदं सर्वम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति कारणादभेदश्च निगम्यते । तथा सति सर्वस्याऽपि पूर्णब्रह्मत्वाद्विषये फले च तारतम्यं नास्ति । "ब्रह्मविदाप्नोती"ति ब्रह्मविदां ब्रह्मप्राप्तिश्रवणात् । तथापि सा गणितानन्दा निस्सम्बोधा च । विभूतिरूपत्वात्सङ्घातस्य विलीनत्वाच्च । "स एको ब्रह्मण आनन्द" इति श्रुतेः । विशेषानुग्रहे तु "आप्नोति परमि"ति परमाप्तिः श्राव्यते । "अथैषाऽभ्युक्ते"त्यादिना च सा द्वयी विविच्यते । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्नि"ति ब्रह्मप्राप्तिः । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति च परमाप्तिः । तथाच "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" इति वाक्येन कर्ममार्गेण यत्फलं तत्कल्याणं, ज्ञानमार्गेण कल्याणतरं, भक्तिमार्गेण च यत्तत्कल्याणतमम् । विभूतिरूपेषु फलानि नियतानि च विविधानि च स्वल्पानि च । कर्ममार्गीयत्वात् । ब्रह्मरूपे च फलं नियतमपि न विविधं नापि स्वल्पमपि त्वतिशयितानन्दं तथापि न निरतिशयम् । किन्तु गणितानन्दम् । ज्ञानमार्गीयत्वात् । पररूपे तु भगवति सर्वकामाशनरूपत्वाद्विपश्चितो ब्रह्मणश्च सह भावाद्विविधमेकस्यैवेति न नियतं वा परिमितं वा किन्तु पूर्णानन्दञ्च फलम् । भक्तिमार्गीयत्वात् । अन्यत्र साधनानि फलानि च पृथक् पृथक् । तत्र साधनानां फलपर्य्यवसायित्वे जीवसामर्थ्यं प्रयोजकम् । यदि सिद्ध्यन्ति फलं लभ्यते । न सिद्ध्यन्ति न लभ्यते । तेन क्लेशप्राचुर्य्याद्व्यभिचाराच्च विभूतिरूपं न कल्याणतमम् । नापि ब्रह्मरूपमपि तथा । "अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते । क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामि"त्यादिवाक्यैः । फलस्य फल्गुता गणितानन्दता च विद्यते । पुष्टिभक्तिमार्गे तु साधनं फलञ्चैकमिति न क्लेशो न व्यभिचारः पूर्णानन्दता त्वस्तीति तत्कल्याणतमम् । तदेतदुक्तम्—यत्ते रूपमित्यादिना । यत् । भक्तान्तं श्रीयशोदोत्सङ्गलालितरूपं परमकाष्ठाप्रपन्नम् । "एते चांऽशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि" इति "मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये"ति "जानीत

परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितमि"ति च वाक्यात् । ते । सर्वरूपरूपस्य सर्वाधीशस्य सर्वमार्गप्रवर्त्तकस्य तत्तत्प्रातिस्विकसाधनफलरूपस्य सर्वभवनसमर्थस्य सर्वभूतस्य मूलभूतस्य निस्साधनफलात्मकस्य विभूतिविभूतिमदुभयात्मकस्य क्षराक्षरपुरुषोत्तमस्य क्षराक्षरातीतस्य पुरुषोत्तमस्य भक्त्येकभावनीयस्याऽनुग्रहैकरसस्य निश्शेषप्रतिबन्धनिवर्त्तनशीलस्याऽविकृतपरिणामाभिन्ननिमित्तोपादानसत्कार्य्यवादादीनां विषयस्य स्वस्वरूपप्रकाशनशीलस्य प्रतिबन्धकवधकर्त्तुरपरिमेयाचिन्त्यशक्तेरपरिच्छिन्नपरमानन्दमहोदधेः । पुनरपि । यत् । उक्तसर्वात्मकत्वेनैव प्रातिस्विकेभ्यः सकलेभ्यो व्यावृत्तं स्वतन्त्रमनितरसाधारणं मूलरूपफलरूपासाधारणं निरस्तसाम्यातिशयं देहदेहिभावानापन्नं मुक्तानिसर्गं कैवल्यानुभवानन्दस्वरूपं चरणमात्रलभ्यं भगवदिच्छयैव दृश्यं स्वेच्छया सर्वथैवाऽदृश्यं भगवदेकप्रकाश्यं पुष्टिभक्तिमदेकप्रकटं तदेकप्रसिद्धसेवाभोग्यं साधनं च फलञ्च त्रिभुवनतारकं भक्तिवरस्वतन्त्रं निरीक्षणमात्रेण स्वरूपप्रापकम् । रूपम् । सकलसुन्दरसन्निवेशप्रपुष्कं मरकतश्याममपीच्यदर्शनमानन्दरूपमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहमात्मतन्त्रं निश्चेतनात्मकशरीरगुणहीनं त्रिविधभेदविवर्जितात्मरूपं स्वाभाविकस्वरूपात्मकवस्त्राभरणादिविभूषितमौत्पत्तिकसकलसंस्कारसम्पन्नं परमसौन्दर्यसौकुमार्य्यमाधुर्यलावण्यम् । कल्याणतमम् । "तदेव रम्यं तदु हैव मङ्गलं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् । तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते । श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् । बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् । इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः । अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् । बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् । रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः । यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः । तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः । न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते । आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः । यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि । अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते । अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः । भुव आक्रम्यमाणाया अभा-

राय कृतोद्यमः । कर्माण्यपरिमेयानि मनसाऽपि सुरेश्वरैः । सह सङ्कर्षणश्चक्रे भगवान्मधुसूदनः । कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् । अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः । यस्मिन्सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् । श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् । भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः । श्लाघनीयेहितः शश्वत्कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः । स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया । नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया । तस्याऽऽननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् । नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च । निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् । क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् । पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः । दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन्वत्सपदं स यत्प्लवाः । द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् । जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणङ्गतायाः । वीर्याणि तस्याऽखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः । प्रयच्छतो मृत्युमुताऽमृतञ्च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् । भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः । आविवेशांऽशभागेन मन आनकदुन्दुभेः । स बिभ्रत्पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः । दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह । ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी । दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः । सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये । सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः । बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य । सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् । त्वय्यम्बुजाक्षाऽखिलसत्त्वधामनि समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके । त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् । स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः । भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्”इत्याद्यभिष्टुतिकोटिकरम्बितशास्त्रशरीरम् । किञ्च । अनुग्रहैकनिरतस्वभावं शरणागतवत्सलं अनुग्रहैकलीलमनुग्रहेतरलीलारहितमनुग्रहैकान्तर्भावितासिललीलं फलतमं रसैकरसं नित्यसिद्धसर्वलीलोपकरणं सदा तरुणं सदा बाललीलापरं सर्वेन्द्रिया-

स्वाचमितररागविस्मारणमशेषक्लेशविशेषनिःशेषनिष्पेषपेशलमखिलार्थलाभाव-लोकमानन्दघनं नित्यलीलानित्यलीलस्थलनित्यलीलापरिकरविशिष्टं नित्योत्सवं नित्यैकरसमखिलरसात्मकमखिलपुरुषार्थरूपमात्मानुभावप्रकटनहृदयं सर्वका-माशनशेवधिसाक्षात्कारं भक्तेच्छानुकूललीलाविलासविलसितं वेणुगीतश्री-सुबोधिनीनिष्कृष्टपुष्टिमार्गीयैश्वर्य्यवीर्य्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यविराजिततयैकान्ति-ककूलङ्कपानुकम्पाकमनीयं जीवगतयोग्यतातदुचितकृतिविमर्शनिर्व्यपेक्षस्वस्व-रूपस्यनिरुपममहत्त्वमात्रविचारपुरस्सरानुकम्पापीयूषासारप्रसारकृतार्थीकृताङ्गी-कृतजनजीवनं परिसमाप्तपरिस्पृहणीयपदार्थसार्थस्पृहाप्रवाहं निरपायपर-मानन्दमयमद्भुतसौन्दर्य्यसौकुमार्य्यमाधुर्य्यविमोहितत्रिभुवनं परममङ्गलमूलं नित्यनिर्मलमङ्गलं साक्षान्मन्मथमन्मथं विधुतशोकश्च । अपरश्च । यच्चलोके पुत्रोत्सवादिरूपमायुरारोग्यैश्वर्यादिरूपं शास्त्रेषु चाऽऽमलाभादिरूपं भगवत्मा-प्त्यादिरूपं कल्याणं प्रसिद्धं तदुभयरूपस्वरूपम् । सर्वलीलावैशिष्ट्यात् । "लोकवत्तु लीला कैवल्यमि"ति न्यायात् । स्वरूपानन्दानुकूल्येन लौकिकालौ-किककल्याणप्रदताया अपि शास्त्रैरुपवर्णनात् । "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप । जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि । दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृता-सवस्त्वां विचिन्वते । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ । वंशाङ्कुरं वंशद-वाग्निनिर्दग्धं संरोहयित्वा भवभावनो हरिः । निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह । अनेन खलु वंशोऽयं यदोः सुमहुविश्रुतः । श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः । न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया । विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः । कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः । सम्पदाऽऽविर्भावः स्वेन शब्दादि"त्यादिभ्यो वाक्येभ्यः । तत् । तदेव । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य वचनात्तद्दर्शने कल्याणकल्याणतर-दर्शनस्याऽपि सिद्धेः । पृथग्दर्शनस्यैवाऽशास्त्रीयत्वात् । तथा दर्शनायाऽन्यथा दर्शनप्रतिषेधायैव च "यत्ते रूपं कल्याणतममि"ति व्यावर्त्तकानि पदानि । ते । अनुग्रहबलादित्यर्थोऽध्याहारः । अनुग्रहप्रकरणात् । "तत्त्वं पूषन्नपावृणु । पूषन्नेकर्षे"इत्यादिना प्रार्थ्यत्वेनाऽनुग्रहस्यैव प्रक्रमात् । त्वदीय इत्यर्थो वा ।

वरणात्। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः। अतिरिक्तस्याऽनधिकारात्। पश्यामि। इदानीमेव निरन्तरं सर्वदा शाश्वतकालश्चेति वर्तमानप्रयोगार्थः। "तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि"ति प्रतिबन्धापगमपूर्वकं स्वरूपदर्शनं "व्यूह रश्मीन् समूह तेज"इति भगवदानुकूल्यञ्चाऽभ्यार्थितमिति स्वरूपे पुरः प्रादुर्भूते पश्यामीत्युक्तम्। तेन "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य" इति श्रुत्यर्थः सङ्गृहीतः। धैर्याभावो विरहासहिष्णुता च व्यञ्जिता। प्रार्थनोत्तरं भगवान्न विलम्बत इति शास्त्रार्थश्च दर्शितः। प्रार्थनापरं तदीयत्वानुसन्धानपुरस्सरापारमार्थिक्यपेक्ष्यत इति भावो ध्वनितः। पश्यामीति स्वातन्त्र्यमुक्तम्। "तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वामि"ति भगवान्निजभक्तस्य स्वरूपं विवशस्तदिच्छानुसारेण विवार्य्य दर्शयति। भक्तश्च पश्यति। कान्तः कामिनीमिव। न तु दर्शनदानार्थं तं प्रतीक्षते। अनुग्रहमहिम्ना भगवत्प्राधान्यापगमात्। भक्ते प्राधान्योदयाच्च। "स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति कृष्णपदार्थः क्वचिद्विवृत"इति वेणुगीतश्रीसुबोधिनीवचनात्। "प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयती"ति न्यायात्। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति श्रुत्यन्तरात्। भक्तवश्यतास्वाभाव्याच्च। "एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यते"ति कथनात्। दर्शनस्य भोगपर्य्यवसन्नताऽपि च तावता दर्शिता। हर्षातिशयवशात्स्वप्राधान्यमेवाऽनुवदति तत्र निजस्य दर्शनमेव प्रमाणयति किम्पश्यसीति तदपि निर्ब्रूते इत्याह—योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। असौ। पश्यामीति प्रागुक्तेः प्रत्यक्षं दृश्यमानः। पुरुषः। आदिपुरुषो भगवान्। योऽसौ। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः। सोऽहमस्मि। अहं तदंशस्तद्दासस्तत्सेवकः सर्वथा निर्मलो निस्साधनः सर्वथा परतन्त्रः। सोऽस्मि। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानोऽस्मि। भगवतोऽपि यदानुकूल्येन वर्त्तनात्। ममैव प्राधान्याच्चदप्राधान्याल्लीलायाम्। तदनुग्रहमहिम्नेति भावः। यद्वा। विरहवशात्सर्वत्र तादृशं रूपं पश्याम्यात्मनि च त्वामेव पश्यामि। "कृष्णोऽहं पश्यत गतिमि"तिवल्लीलाश्चाऽनुकरोमि। तस्माच्छीघ्रं विरहं निवारय साक्षाद्दर्शनं देहीति भावः। किंवा। ननु जीवस्य दुष्टस्य भोगपर्य्यवसन्नं दर्शनं न योग्यमित्यत्राऽऽह—योऽसावित्यादि। असौ पुरुषः योऽसौ सर्वस्याऽऽत्माऽऽत्मनश्चाऽऽत्मा। अस्ति।

वायुरनिलममृतमथ भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७ ॥

स्वरूपत्वात् । नाऽतिरिक्तं किञ्चिदस्ति । कटकसुवर्णवत् । तेन—सोऽहमस्मि । परमात्मैवाऽस्मि । न तदतिरिक्तः । अज्ञानादतिरिक्तत्वदुष्टत्वयोर्भानं न ज्ञाने । भक्तश्चाऽस्मि । परमात्मन एवाऽऽत्मत्वभाने प्रेमाबद्धत्वस्यभावात् । तस्मान्नाऽनुपपन्नं किञ्चिदपि । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति श्रुतेः । अथवा । विरहवशेन त्वरातिशयात्—पश्यामि । प्रतिबन्धापगमक्षणे द्रक्ष्यामि । प्रतिबन्धापगमाय त्वरस्व । न विलम्बस्व । दैन्यं निवेदयितुमाह—योऽसावसावित्यादि । असौ पुरुषः । जीवः । भगवदंशत्वात्तद्रूपोऽपि सहजसेवकोऽपि । योऽसौ । मायया विमोहितोऽनर्थपरम्परासु निमग्नः । भगवद्भक्त्यैव निवर्तनीयानर्थपरम्परः । शास्त्रैरुच्यते । सोऽहमस्मि । त्वदेकशरणार्थी । पाहि मामित्यर्थः । तदुक्तम्—"भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहितेऽमले । अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम् । यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाऽभिपद्यते । अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज" इति । श्रीसुबोधिन्याञ्च—"वस्तुतो जीवोऽपि ब्रह्मैवेति परोऽपि प्रकृतेर्नियामकोऽपि त्रिगुणात्मकं गुणत्रयभावापन्नं जडरूपं मन्यते । तत्कृतं चाऽनर्थं जन्ममरणादि प्राप्नोती"ति ॥ १६ ॥

त्वरामेव भावप्रदर्शितां समर्थयन्नग्निगुणोपनिहितायास्तदर्थनाया वैफल्यायोगं विलम्बस्याऽनवेक्ष्यकारितामसज्ञकत्वञ्चाऽवधापयन्नभ्यर्थयत इत्याह—वायुरित्यादिना । ओम् । अवति स्वकीयानित्योम् । हे ब्रह्मन् । "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मे"ति "ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत" इति च श्रीगीतावाक्यात् । "कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि । ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिन" इति निबन्धात् । "वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इति श्रीपुरुषोत्तमवाचकत्वाऽप्योङ्कारस्य प्राप्यते । किञ्च । "ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिरि"ति श्रीपुरुषोत्तमपरत्वं प्रतिपाद्य "निगमकल्पतरोर्गलितं फलमि"ति वेदफलत्वं श्रीभागवतस्य निरणायि । वेदवृक्षश्च प्रणवबीजः ।

"वेदः प्रणव एवाऽग्र" इति वचनात् । "प्रणवाद्या यतो वेदाः प्रणवे पर्य्यवस्थिताः । वाङ्मयं प्रणवः सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेदि"ति वचनाच्च । "प्रणवबीजो वेदतरुरस्ती"ति श्रीसुबोधिन्याश्च । "सर्वं तस्योपव्याख्यानमि"त्यादिभ्यः शतशः श्रुतिस्मृतिभ्यश्च । ब्रह्म चोत्तरकाण्डार्थः । ज्ञापनीयत्वात् । ज्ञानञ्च प्रेमार्थम् । आत्मतत्त्वज्ञानेऽवश्यम्भावात् । प्रेम च सेवां प्रयुनक्ति न मोक्षम् । स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपत्वादन्यथा प्रेमभङ्गप्रसङ्गात् । उक्तञ्च—"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम" इति । येषां न सम्यगाऽऽविर्भावस्तेषामस्तु मोक्षः फलम् । न त्वनुगृहीतानामित्यन्यत्र विस्तरः । "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतमि"त्येवञ्जातीयकानि च वचनानि बहून्येव विद्यन्ते । तथाच निरुपधिप्रेम्णा नित्यसेव्येत्योमिति सम्बुद्ध्यर्थः । एतदेवाऽवनं निरुपधिप्रेमवतां तेभ्यो नित्यसेवादानं नाम । "ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति यारुक" इत्येतद्वचनमेव ह्योमित्येतदर्थः । प्रार्थनाया विधानोक्तत्वप्रदर्शनाय तदभावे यज्ञदानतपःक्रियाः कृता विफलास्तस्याञ्च सत्यामकृता अपि कृता भवन्तीति यज्ञदानतपःक्रियात्मकताद्याऽभिव्यञ्जयितुं मङ्गलार्थञ्च तेनोर्जस्वलत्वाय च प्रार्थनावाक्यारम्भे प्रणवप्रयोगः । तदुक्तम्—"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्"ति । पूर्वकाण्डार्थमाह—क्रतो इति । क्रत्वर्थत्वात्पूर्वकाण्डस्य । "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि"त्यादिसूत्रात् । "वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैरि"त्यत्र वेदपदस्येवाऽत्रापि तत्पर्य्यायस्याऽऽम्नायपदस्य पूर्वकाण्डैकविषयतेत्यन्यदेतत् । करोति पुरुषार्थसिद्धिं फलदानं चेति क्रतुः । क्रियते वेदोक्ताधानादिसोमान्तक्रियाभिर्देहचेष्टारूपाभिर्ध्यानादिसहिताभिरभिव्यक्त इति क्रतुः । भगवान् । न वेदबोधितक्रियामात्रं क्रतुः । "अहं क्रतुरहं यज्ञ" इत्यादिवचनात् । "यज्ञ ईज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रमि"ति विष्णोर्नामसहस्राच्च । "अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत् । प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतम् । ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद्भवे-

दि"त्युपक्रम्य "ध्यानादिभिर्यथा मूर्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः । आधानादि-क्रियातोऽभिव्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिण" इति सर्वनिर्णयनिबन्धाच्च । वेदोक्तकर्मभि-राराध्य पुरुषार्थसिद्धिप्रद चेत्यर्थः । सेवाप्रिय सेवैकलभ्येति यावत् । ओमिति समभिव्याहाराज्ज्ञानप्रेमोभयपूर्वकत्वं कर्मणां लभ्यते । तेन भगवदेकाराधना-र्थान्येव कर्माणि न पुरुषार्थान्तरप्रेप्साप्रयुक्तानि । भक्तिमार्गीयाणि । न भक्त्यङ्ग-कानि । न भक्त्यङ्गानि । प्रेमसेवायामङ्गानपेक्षणात् । परं प्रेमप्रयुक्तानि परि-चर्यारूपाणि । "विदुषः कर्मसिद्धिः स्याद्यथा नाऽविदुषो भवेत् । भक्त्या च हृदि भावितः । भागवतवत्सलतये"ति वचनान्तरैकवाक्यतातश्च । एवञ्च वयं निरुपधिप्रेम्णा ते नित्यसेवामपेक्षामहे । तस्यां क्रियमाणायामेव च परमानु-ग्रहविलाससाक्षात्कारिकां तेऽभिव्यक्तिम् । भवांश्च भक्तैर्निरुपधिप्रेम्णा क्रिय-माणां सेवाख्यां परिचर्यां तत्पूर्वकमेव तैः साक्षात्कार्यास्वादां स्वाभिव्यक्ति-मतिशयितानुग्रहशीलत्वादपेक्षते । तथा सत्येव रसोत्कर्षापूर्वानन्दसन्दोह-सुखास्वादश्चेति वेदादिसच्छास्त्राविर्भावानुरोधात्साकारब्रह्मवादाच्चाऽवसीयते । एवमन्योन्याभिलाषसिद्धौ सङ्गमविलम्बोऽनवसरपराहतो दुष्प्रसहश्च विरहक्लेश इति तत्कारणमन्विष्यन्तोऽपि नोपलभामह इति भावः । इतश्च चित्रयाम इत्याह—**वायुरिति** । "तद्वायुः । मातरिश्वानमाहुः । वायुर्यमोऽग्निर्वरुण" इत्यादिवचनैर्भवान् वायुरुच्यते । स च क्षेपिष्ठा देवता । तत्र विलम्बः परमं चित्रम् । अभायवचाश्चोद्रेचयति । तस्माद्वायुवदतिशयितया त्वरया निजजनो-ज्जीवनाय स्वरूपदर्शनप्रतिबन्धापगमे प्रसज्जस्वेति भावः । नन्वलमत्यर्थतुत्ता-पेन । क्षणमवलम्ब्यतां धैर्यमित्यत्राऽऽह—**अनिलममृतमथेदं भस्मान्त**[१२] **शरीरं सरेति** । विरहवैक्लव्यविह्वलाः क्षणमपि न शक्नुमः प्राणान्धारयितुम् । यदि त्वया धापनीयास्तर्हि अनिलं येनाऽनिमस्तत् अमृतं येन मृतं मरणं नाऽस्ति तत् । विशेषावधारणकथनाशक्तेः सामान्यतो वचनम् । अन्तःसमागमं वा अधरामृतदानं वा हृदये चरणाम्भोजस्थापनं वाऽन्यदेव वैवंविधमिति भावः । विरहविपण्णो. हि नलिनीदलवीजनादिनाऽनिलेनाऽमृतसेचनेन चोज्जीव्यते । उच्यतेऽपि—"कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्ध" इति । "वितर वीर नखेऽधरामृतमि"ति च ।

सरेति सम्बन्धः । मा भूत्क्रीडानुपङ्गत्वयादिसरणं येन पश्चात्तापस्ते मा स्मास्वशिष्यत । तस्मादसदुज्जीवनैकनिरतचित्तो भवेत्यर्थः । प्रतिबन्धनिराकरणेन स्वसाक्षात्कारदाने तु क्रीडाशीलस्य ते क्रीडाविच्छेदो न भविष्यतीति भावः । ननु तादृशो विरहक्लेशो नाऽस्ति युष्माकं यादृशं निवेदयध्वे इति चेत्सत्यमित्याह—अथेदं भसान्तं शरीरमिति । अथेति पक्षान्तरे । सत्यं भूते भवांस्तादृशो विरहक्लेशो नाऽस्तीति । सति तत्र तादृशे प्रार्थनायोगात् । प्रागेव प्राणापगमात् । धिग्दाम्भिकानस्मान् । तथापि कृपया शीघ्रमेव त्वत्सेवामसभ्यं देहि । यत इदं पुरुषार्थमात्रसाधनं मानुषं वर्त्तमानयुवावस्थं पटुतरकरणकलापसम्पन्नं परिश्रमक्षमं तत्र तत्र दक्षं. स्मृतिमेधासमेधितसेवार्हताकं सेवार्थमेव यदृच्छया लब्धं शीघ्रमेव सेवायां विनियोज्यं शरीरमितः परस्ताद्विपरिणामादिगोचरतां गमिष्यदिदानीमपि रोगादिभिरेकान्ततोऽनुज्झितं भसान्तमिदानीमेव त्वत्सेवादिविनियोगाभावे भविष्यति । विगलिताखिलपुमर्थम् । भसन्येव भसैव वा अन्तः पर्यवसायो यस्य तत् । तादृशं तत् सर चिन्तय । सेवायां शरीरस्य विनियोगे क्षणार्द्धमपि न विलम्बितव्यमिति भावः । तदुक्तम्—"लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः । तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् । नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा । महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वयेत्यादि । यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नाऽऽयुषः । आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः । कौमाराचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिहे"ति । नन्वेवं चेज्जानथ कुतो विलम्बध्वे । भवद्भिश्च सेवायामित्यत्राऽऽह—स्मरेति । त्वदनुग्रहं विना स्वेच्छया तत्करणे कस्याऽपि सामर्थ्यं नाऽस्तीत्यर्थः । तदुक्तम्—"यदनुसर्प्यते काले स्वबुद्ध्याऽभद्ररन्धन । तेनोपशान्तिर्भूतानामि"ति । "मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् । क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञये"ति च । "हिरण्मयेन पात्रेणे"त्यादि ह्युपक्रान्तमिति । किञ्च । कृतं स्मर । त्वयैतदखिलं जगत्स्वसुखार्थं

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

स्पष्टम् । जीवानाम्पुरुषार्थसिद्ध्यर्थञ्च । सेवयैव भवत्या तदुभयं परमार्थतो भवति । नाऽन्यथा । अन्यथा कृतहान्यकृताभ्यागमौ तव प्रसज्येयातामित्यर्थः । निर्दोषपूर्णगुणविग्रहे च तदसम्भवो यतस्तस्मात्तस्त्वा सेवामेवाऽस्मभ्यं शीघ्रं देहि मा स्माऽन्यथा कार्षीरिति भावः । प्रार्थनाग्रथापनार्था आग्रहनिवेदनार्था धैर्य्याभावार्था अनुपेक्ष्यत्वार्था पुनः पुनः प्रार्थनावश्यकत्वार्था च द्विरुक्तिः ॥ १७ ॥

एवं "तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि"ति प्रार्थना मन्त्रद्वयेन समर्थिता । देवत्वमूला आचार्य्यरूपत्वार्था चैषा प्रार्थना । आचार्य्यैकनिरस्यत्वाद्व्यामोहानाम् । सम्प्रति पाषण्डनिरासं विना नाऽऽचार्य्यलाभः । आचार्य्यलाभं विना च न व्यामोहनिरासः । यथार्थस्यैकत्वादयथार्थानां बहुत्वाद्विपर्य्यरणाग्रचैव्य । पाषण्डानां प्रचुरत्वाच्च । तदर्थमाचार्य्याविर्भाव एवाऽऽवश्यकः । पाषण्डानि निरस्तानि भवन्ति । आचार्य्यलाभः सिद्ध्यति । तदानीन्तनानामनायासेन स्वतः । आविर्भावात् । इदानीन्तनानामप्याचार्य्यावतारत्वेन प्रख्यानात् । अन्ये ह्याचार्य्याः शेषादयः । श्रीमद्वल्लभाचार्य्यास्तु आचार्य्यावतारा भगवतः । व्यामोहश्च निरस्यते । युगपदिदं भवत्येकेन चेति "तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि"ति तत्पदेन श्लिष्टेन तादृशेनाऽपावृण्विति पदेन च तदाविर्भावाभ्यर्थनम् । पारोक्ष्याय च । अथाऽऽचार्य्यरूपतां पुरस्कृत्यैव भगवदभ्यर्थनमिदं प्रवृत्तमित्यत्राऽतिविस्पष्टं प्रमाणमुपदर्शयन्ती प्रार्थनासाफल्यमाचार्य्यरूपेण प्रादुर्भावात्सूचयन्ती तस्मिन्नाचार्य्यरूपे भगवति यदभ्यर्थनीयं तदभ्यर्थयते तादृशं भगवन्तमभिमुखयन्नित्याह— अग्ने नयेत्यादिना । नन्वेनःसद्भावे कथमनुग्रहः कार्य्यः । प्रार्थना तत्र कोपयुज्यते । मार्गगता एव ज्ञानादयः फलदाः । मार्गनिष्ठाभावे भक्तिर्विफला । भगवत्कृपाया अभावेऽपि मार्गनिष्ठा फलदा । "निष्ठाभावे फलं तस्यास्तस्येचेति विनिश्चयः" । तत्प्रवर्त्तितमार्गनिष्ठया फलावश्यम्भावात् । "यदनुग्रहो

भवान् । गुरुशुश्रूषया यथा । कृष्णं विज्ञापयाम्यहमि"ति भगवदनुग्रहसाधकत्वात्स्वातन्त्र्येण मार्गस्य । तदुक्तम्—"न वै जनो जातु कथञ्चनाऽऽव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यत" इति प्रथमस्य पञ्चमे । पूर्वार्द्धं व्याख्यायोत्तरार्द्धं व्याचक्षाणा ऊचुश्च श्रीमदाचार्य्यचरणाः श्रीसुबोधिन्याम्—"तत्र हेतुः—स्मरन्निति । वाक्शरीरसाध्यमवस्थभावेऽपि कामुकस्य कामिनीस्मरणमिव परमानन्दरूपचरणालिङ्गनं पूर्वजन्मनि जातमधुना स्मरन् तच्चरणपरित्याजकसाधनं न कुर्यात् । यथा भरत-हरिणेन स्वमात्रादयः परित्यक्ताः । न भगवन्मार्गः । इच्छामपि न कृतवान् । यतो रसग्रहः । रसेन ग्रहणं यस्य स तथोक्तः । भगवतः कृपाऽभावेऽपि मार्गस्यैव बलिष्ठता । तदाह—यत इती"ति । "यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् । भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः । सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः । तत्राऽन्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाऽशृणवं मनोहराः । उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"त्यादयः स्मृतयः श्रुतयश्च सन्ति । तेनाऽऽचार्य्यप्रपत्तिः सन्मार्गलाभस्तत्र तात्पर्य्यावधारणपूर्वकश्रवणे च प्रतिबन्धकमूलभूतपापनिवृत्तिश्च तस्यां निस्साधनतामात्रलभ्यत्वज्ञानं च तदर्थं परमं दैन्यं च तेनाऽर्थसिद्धिरिति किमपि युष्माकं नाऽस्तीति चेत्तत्समादधानस्तं प्रार्थयत इत्याह—अग्ने नय सुपथेत्यादिना । अग्रे नयतीत्यग्निः । निशि तिमिरावृतायामग्रगमनोपयोगिदेहेन्द्रियादिसम्पत्तौ सत्यामपि वैफल्यादग्रे गमनं न सम्भवति । तत्र प्रेक्षावन्तः पुरुषार्थमभीप्सन्तोऽग्निमाश्रित्याऽग्रे गच्छन्तो भयान्मुच्यन्तेऽभीष्टमर्जयन्ति । पुरुषार्थेप्सूनां कृते निश्यग्निः पुरुषार्थसाधकः सृष्टावीशेन सृष्टः स्थापितश्च । अग्रे भयस्थानादग्रे निर्भयस्थाने । अनभीष्टदेशादभीष्टस्थाने । अपकृष्टावस्थात उत्कृष्टावस्थायाम् । अवतारकालः पाषण्डानुदयाच्छास्त्राशययाथात्म्यलाभकालश्च दिनम् । पाषण्डप्राचुर्य्याच्चदितरकालो रात्रिः । इदं च "कृष्णद्युमणिनिम्लोचे धर्मः कं शरणङ्गतः । पुराणार्कोऽधुनोदित" इत्यादिवचनानां स्वारस्यादवसीयते । तत्राऽभयमिच्छतां परित्राणाय भगवानग्निरूपः संतिष्ठति तिमिराण्यपनयन्मार्गं प्रदर्शयन्नाध्यमुज्जासयन्देहेन्द्रियादीननुगृह्णन् कर्मणि

सहायः सन् प्रकाशं प्रवर्त्तयन् मार्गनिष्ठाञ्जनयन् मार्गात्प्रच्यावं निवारयञ्छक्तिमाप्याययन्नुत्साहं वर्द्धयन् हर्षं वर्धयन्नवसादं विलुम्पन् ज्ञानमुत्तेजयन् सहभावममुञ्चन् रात्रिमपि दिनकक्षापन्नां कुर्वन् क्रूरान्भीषयन्नाश्रितान् परिरक्षन् क्षुद्राञ्छलमीकुर्वन् दोषान्दहन् स्वरूपं शोधयन् पावित्र्यं जनयन् भगवदुपयोगार्हतां जनयन् सदसत्पदार्थविवेकक्षमतां कुर्वन्नसत्सम्बन्धं हापयन् सत्सम्बन्धं सृजन् स्वस्वरूपं भगवद्रूपं प्रकाशयन् दीपादिपरम्परावदविच्छिन्ननिजतेजस्कां सन्ततिमातन्वन् स्निग्धेष्वाचिश्वन्निस्स्नेहांस्त्यजन् । तदिदमग्रे इति सम्बुद्ध्या सर्वं सूचितमर्थात् । किञ्च । अग्रे पुरस्तादेव नयति स्वकृपाविषयतामित्यग्निः । भगवान् हि अनुपलभ्यवर्त्मा । वर्त्मना तदाराधने तत्कृपा फलमुखी । न पूर्वम् । प्रकरणभेदेन मार्गाणां निरूपणान्यथानुपपत्त्यैतदवसीयते । तस्य ज्ञानं गुरुवेदादिभिः । गुरुशब्दस्याऽन्धकारनिरोधित्वार्थकत्वादग्नेश्चाऽन्धकारनिरोधित्वादग्नेरौत्सर्गिकं गुरुत्वं गम्यते । मन्त्रेऽस्मिंस्तच्चैवोपपाद्यते । वाक्पतित्वाच्च । "विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोरि"ति "वाचां वह्निर्मुखं क्षेत्रमि"ति "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्यादिवाक्येभ्योऽग्नेर्वागिन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन वाग्व्यापारस्य च देवताधिष्ठितेन्द्रियसाध्यत्वेन तदर्थज्ञानस्याऽपि तथा सति याथार्थ्यतो वाक्पत्येकनिष्ठत्वाद्वेदादिभिर्ज्ञानस्य तत्कृपयैवाऽन्येषामपि सम्भवात् । नाऽन्यथेति । तथाच भगवन्मार्गप्रविविक्षुणा भगवत्कृपार्थिनाऽग्नेः समाश्रयणमादावेव विधेयम् । नाऽन्यथा गतिः । तत्कृपायां सत्यां भगवत्कृपा नान्तरीयकी । भगवत्कृपाया अभावेऽप्याचार्य्यकृपया तत्सिद्धेः । "गुरोरनुग्रहेणैव । गुरुशुश्रूषया यथा । मदनुग्रहो भवानि"ति वाक्येभ्यः । तत एव भगवत्कृपार्थं भगवदग्रे शरणगमनार्थमात्मनिवेदनार्थं च नयति जीवाननुरुणद्धि च कृपार्थं भगवन्तमनुकूलयति च स्वयं समाराध्य प्रसादमासाद्य तद्बलेन जीवाननुकम्पते चोद्धरति चेत्यतोऽप्यग्निः । "सर्वभक्तसमुद्धारे कृष्णं विज्ञापयाम्यहमि"ति वाक्यात् । एतेन भगवदपेक्षयाऽपि दयालुतायाः परमा काष्ठा निजजनोद्धारमात्रकार्य्यताऽद्भुतसामर्थ्यं चोक्तम् । सा च भगवल्लीलेति नाऽनुपपत्तिः काचित् । "तस्यैवाऽऽत्मानुभावप्रकटनहृदयस्याऽऽज्ञया प्रादुरासीदि"ति वाक्यात् । "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरावि"ति वाक्याच्च ।



हे अग्ने । वाक्पते । पुष्टिमार्गाचार्य्य । गुरो । "यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवदि"ति वचनञ्च चकास्ति । तेन साक्षाद्भगवतेति । अस्मान् । निःसाधनाननन्यगतिकाननुग्राह्यान्स्वबलेनैवोद्धरणीयांस्त्वदेकचरणावसन्नान् । अस्मदुद्धारार्थत्वात्स्वरूपसच्चायाः । तदर्थमेवाऽऽविर्भावान्मुखे भूमौ चाऽऽचार्य्यरूपेणेति । तेन "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मते"ति वाक्याद्दैवोद्धारप्रयत्नात्मत्वमुक्तम् । निस्साधनजनोद्धारपरायणत्वञ्च । प्रकरणादिदं लभ्यतेऽग्निपदसमवधानाच्च । सुपथा । फलात्मकेन स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेण परमानन्दमयेन रसात्मकेन क्लेशरहितेन निर्दोषक्लेशनिष्पेषपेशलेन सद्यो भगवत्प्रापकेण अदूरेण फलाभिन्नसाधनेन सुकरोपायवता सुगमेन प्रोज्झितकैतवेन साक्षात्परम्परया च वेदादिसकलवाङ्मयसमन्वयसिद्धेनैकदेशितारहितेन सार्वदेशिकेन तत एव शास्त्रविरुद्धांशत्यागपूर्वकसर्वसमयसमन्वयमयसमुदयेन निरस्तसमस्तविरोधिजनेन निष्कण्टकेन यथार्थेन साक्षाद्भगवता प्रोक्तेन न भ्रान्तिकल्पितेन निरस्तभ्रान्तिकारणेन सर्वगम्येन शिष्टाचरितेन निरपायेण भगवल्लीलामयेन स्वरूपात्मकेन सुलभौपयिकसकलसामग्रीकेण निर्भयेण मनोहरेण मधुरेण प्रियेण सरलेन भगवता च भवता च परिरक्ष्यमाणेन विविधोत्सवेन अक्लिष्टेन साकारब्रह्मवादापरपर्यायेण पुष्टिमार्गाख्येन सर्वशास्त्रैकतात्पर्य्येण प्रमेयबलोपबृंहितेन । राये धनाय । अनधिकारिणे अप्रकाश्याय अधिकारिणेऽनुग्राह्यायैव देयाय । भक्तियोगाय । भगवते वा । श्रीभागवतस्य प्रथमे श्रीव्यासनारदसंवादेन "अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्त्तिं शार्ङ्गधन्वनः । गायन्माद्यन् गिरा तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगदि"त्यनेन भक्तियोगस्य रत्नत्वसिद्ध्या श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रे "भक्तिरत्नप्रदायक" इति नाम्ना श्रीमदाचार्य्यचरणैस्तन्निष्कर्षकथनात् । "यद्वैष्णवानां धनमि"ति वाक्याच्च । तथा सति भगवानपि सुतरां धनम् । भगवत्त्वाच्च । "ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणे"ति वाक्यात् । श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रे चतुर्थस्कन्धीयनामसु श्रीरिति भगवन्नामनिर्देशाच्च । षष्ठे वृत्रासुरचतुःश्लोक्यां "न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य

फाह्वे" इति वाक्यव्याख्यायां श्रीमत्प्रभुचरणैः सर्वार्थरूपत्वादर्थत्वोपपादनाच्च। तदुक्तमादावेव कारिकाभिः—"लौकिको वैदिकश्चाऽर्थस्त्रिविधः प्राकृतैर्गुणैः। क्रमेण ते भगवतो गुणैः षड्भिर्निराकृताः। स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्त्विकादि तु लौकिकम्। मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयश्चेति वैदिकम्। प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तत्तु लौकिकम्। निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्विशेषाद्वैदिकं परम्। प्रत्येकमेव ते चाऽर्था न तु सम्भूय कुत्रचित्। भगवत्यखिलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते। अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमार्गेऽङ्गमन्यतः। सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथाऽत्र विनिरूप्यत" इति। विशिष्योपपादनं तत्रैव व्याख्यायां द्रष्टव्यम्। तथाच सर्वतोऽन्यतो नैरपेक्ष्यपूर्वकं स्वतन्त्रपुरुषार्थतया भगवत्सेवाथर्मस्तस्य इत्यर्थः। तेनाऽन्यत्र पुरुषार्थेष्वर्थपदं भाक्तमेव। भगवति भक्तियोग एव तु साक्षाद्वर्तत इति ध्वनितम्। धर्मद्वारा धर्मिपरा भक्तिरपि न पुरुषार्थः। साक्षाद्धर्मिपरैव पुरुषार्थ इत्यपि ध्वनितम्। परिस्पन्दतेऽपि च साक्षाद्भगवतः श्रीमुखवचनामृतम्—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" इति। पूर्वार्द्धबलादुत्तरार्द्धार्थो भक्तेनाऽभिप्रेतव्यो न भवति। भगवतोऽभिप्रेतस्तु न दोषायेति न कश्चिच्छङ्कावसरः। नय। स्वचरणरजोवलम्बदानेनेति भावः। तेन स्वत्कृपान्यतिरेकेणाऽधीतवेदवेदान्तादिसकलशास्त्राणां महापण्डितानामपि न सुमार्गज्ञानम्। परमतत्त्वेन यथाकथाचन ज्ञानेऽपि तदप्रयोजकमश्रद्धाग्रस्तत्वात्। ज्ञानेऽपि श्रद्धायामपि च जातायां यावन्नाऽस्मेस्तव कृपावलम्बः स्वसामर्थ्याभिमानश्च भाति तावन्न मार्गकामस्तत्र गतिश्च। "गुरुकर्णधारम्" "अकृतकर्णधरा जलधावि"त्यादिवाक्येभ्यो गुरोः सततसहभावेनैव सततगुरुभक्त्या गुरुनिष्ठया गुरुकृपयैव प्रमेयबलेनैव च पुष्टिमार्गीयधर्मसिद्धिः। नाऽन्यथा प्रमाणबलेन। कर्णधारत्वकथनात्। तेन मार्गज्ञानं तज्ज्ञापनसामर्थ्यं तन्निष्ठतासम्पादनमप्याचार्यरूपभगवदधीनम्। तदनाश्रयणे तदनुग्रहाभावे च सर्वविधान्ययोग्यताशालिनां विद्यातपोयोगसमाधिभाजामपि सर्वथाऽनधिकार एव पुष्टिमार्गज्ञानादौ। एकान्ततोऽज्ञानमेव प्रबलमित्यसेः पुष्टिमार्गाचार्यत्वं मार्गाधिपत्वं तदाश्रयणस्य प्रथमकर्तव्यत्वञ्चोक्तम्। अग्ने नय सुपथा राये अस्मानिति पदेभ्यो ज्ञापकेभ्यः। समभिव्याहारबलात्प्रसङ्गाच्च।

नयेति नेतृत्वञ्च । अन्येषां प्रमाणबलेन मर्य्यादया यथाशक्यं शिष्योपकारकरणम् । अग्नेस्तु स्वयमूर्ज्जस्वलस्वरूपत्वात्सान्निध्यमात्रेणाऽभयसम्पादनपुरस्सरजाड्यापगमप्रकाशोपपादनाभ्यां प्रमेयबलेनैव परिपूर्णमेव । तच्चाऽनन्यशक्यभगवत्प्रेमसेवादानं तन्निर्वाहश्च । अन्येषां साधनात्मकः पन्थाः प्रमाणात्मकः । अग्नेस्तु फलात्मक एव पन्था आरम्भादेव । स्वरूपतः । श्रीमदाचार्य्यचरणानुग्रहाच्च । स च प्रमेयात्मकः । प्रमेयबलादेवोन्नमनेन नेयत्वाज्जीवानाम् । नाऽन्यथाऽस्मिन् गतिः । निरस्तसाम्यातिशयत्वाच्च । अस्मानिति चातकव्रतिनोऽनन्यानिति दैन्यं त्वदीयानिति गर्वः । "न मे भक्तः प्रणश्यती"ति विश्वासशालिनः । "सत्स्वपि सरस्सु विमलेष्वलिहंसालीविनोदमधुरेषु । अम्बुदविमुक्तपयसि चातक ते दुर्ग्रहः कोऽयम् । अम्बुदस्य स्वभावोऽयं समये वारि मुञ्चति । तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव न संशय" इति विश्वासिषु श्रीमत्प्रभुचरणवचनाभ्याम् । "कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते । चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहक" इत्यभियुक्तोक्तेश्च । एककोटौ प्रविष्टान् भवतो भविष्यतश्च सर्वान्पुष्टिमार्गीयजीवान् । नय गमय सर्वविधानुकूल्येन गमनयोग्यान् कुरु । सर्वथा स्वयमशक्तिर्दर्शिता । सुपथेति विना भाग्योदयात्तल्लाभो नास्ति । "कः पन्था उत्पथश्च क" इति तदज्ञानञ्च । अग्ने इत्यभिदेव सुपथिज्ञस्तदध्यक्षश्च । मार्गनिर्द्धारो गुरुनिर्द्धार आचार्य्यनिर्द्धारश्चोक्ताः । नयेति नयनेनैव सुपथा गतिर्नाऽन्यथेति । भगवत्प्रेमसेवाख्ययथार्थधनप्राप्तये । बहिर्मुखसङ्गात्पृथक्कुरु । तदर्थं सर्वदा प्रकटीभूतस्तैस्तैः प्रकारैस्तिष्ठ स्वकीयेषु न कदापि तिरोभवेरिति भावः । मार्गप्रवृत्तिः कामिता प्रार्थिता चेतीह विस्पष्टम् । अन्यथानुपपत्त्या तत्प्रकाराश्च मार्गस्थापनप्रतिबन्धनिरसनजन्मग्रहणदिग्विजयशरणग्रहणस्वसदृशानन्यसदृशापर्य्याप्तपुरुषप्रशंसवंशानुवृत्त्यादयः सर्व एव क्रोडीकृता वेदितव्याः । हे देव विश्वानि वयुनानि विद्वानसि । उपादेयानि हेयानि च । हेयानि हापयन्नुपादेयान्युपादापयन् सुपथा नय । यो हि हेयान्युपादेयानि च वेद स एव सुपथा शक्तः शिष्यं नेतुम् । स भवानेव केवलो नाऽन्यः । यो वा त्वदसाधारणकृपाभाजनस्त्वदाराधनधन ऐहिकामुष्मिकनिरपेक्षः स्वयं विदानो हेयानि जहदुपादेयान्येवोपाददानो लोकांश्च हेयान्निवर्त्तयति सुपथि प्रवर्त्तयत्यु-

पादेयानि ग्राहयति । न तु यो हेयेषु हृष्यत्युपादेयेषु परिग्लायति केवलं गुरुपदमलीकं बिभ्रदलज्जमानो धृष्टो मिथ्यावलेपलेपपृथुलः स्वार्थैकनिष्ठो निष्ठुरो निष्करुणोऽर्थेन्द्रियारामो बहिर्मुखो यथाऽऽधुनिकः कश्चिदितरः । तदुक्तम्—"अचक्षुरन्धस्य यथाऽग्रणीः कृतस्तथा जनस्याऽविदुषोऽबुधो गुरुरि"ति । "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा" इति । "आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्य्यं प्रचक्षते" इति च । श्रीमदाचार्य्यचरणा अप्यनुजगृहुः—"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरादि"त्यादि । किञ्च । शिष्यार्थमेव शास्त्रप्रवृत्तेर्गुरुणा च शास्त्रस्याऽवश्योपदेश्यताया एव प्रस्तुतत्वाच्च शिष्येणाऽपि प्रयत्नत एव गुरुमुखाच्छास्त्रार्थः श्रोतव्यस्तदुक्तसाधनानि चाऽनुष्ठेयानि । "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्म्माऽप्येकं तस्य देवस्य सेवे"ति वाक्यात् । "शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थ" इति श्रीमदाचार्य्यचरणैरुक्तवाक्यनिष्कर्षार्थकथनाच्च । यो हि विश्वानि वयुनानि वेद स एवैकवाक्यतां निष्कर्षं निर्द्धारं च वेद । अन्ये एकैकमपूर्णं विदुः । तेनैव नानामतानि परिकल्पितानि । मतावष्टम्भश्च । एकवाक्यतानिष्कर्षनिर्द्धारालाभात् । अज्ञाश्च गतानुगतिकाः । ते हि यथार्थं वस्तु दैवयोगात्कदाचिच्छ्रुत्वाऽपि यथार्थायथार्थनिर्णयाशक्त्या तद्याथार्थ्यमविदन्तः श्रद्धाजाड्यात्स्वस्याऽल्पज्ञतावशाच्च पाषण्डमपि पूर्वपरिगृहीतं मतं सन्मतसम्भावनया न जहति । विवेकाभावात्सदसती विवेक्तुं न प्रभवन्ति । गतानुगतिका एव भवन्ति । तदुभयं मा भूत्सर्वेऽपि सर्वशास्त्राणामेकवाक्यतां निष्कर्षं निर्द्धारञ्च प्राप्यैव सुपथा प्रयान्तु । तदैव परमानन्दो मार्गोत्कर्षज्ञानञ्च । नाऽन्धवत् । को नामाऽस्याऽऽनन्दोऽन्धस्याऽऽकृष्यैव नीयमानस्य याथार्थ्यायाथार्थ्यमविदुषः परप्रत्ययपर्य्यवसितस्य पदे पदे सशङ्कस्य । किञ्च मार्गज्ञानम् । न किञ्चिदपि । नाऽस्य भयनिवृत्तिर्नाऽविश्वासविनाशो नाऽन्यत्वक्लेशभ्रंशः । नाऽन्यथासिद्धं च मार्गज्ञानम् । आवश्यकत्वात् । परमपुरुषार्थत्वात् । तत एव सम्प्रदायप्रवृत्त्यर्थत्वात् । तदेतदुक्तम्—विश्वानि

देव वयुनानि विद्वानिति । विवृतं चैतेन नयेति नयनस्वरूपम् । इदं हि नयनं नयनं यत्किलोपजातप्रकाशस्य निरस्तान्धश्रद्धस्य यथार्थश्रद्धोदयस्य चीयमानगुणगणस्य प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गस्य मार्गे पुरस्सरीभूय पुरः पुरः प्रवृत्तिः । तदर्थमेव प्रागपि "दृष्टय" इत्यभ्यर्थितम् । तस्माच्छ्रीमदग्निदेवप्रवर्त्तितसम्प्रदायपुरस्कारेण सकलशास्त्राणां समन्वयोऽवश्यमेवाऽवधार्य्यः शिष्येण । गुरुणा चाऽवधारयितव्यः शिष्याय । परम्परा च प्रवर्त्यतामिति शास्त्रार्थोऽयं सिद्धः । एतदुल्लङ्घनं सर्वानर्थकरं सर्वेषां न केवलं साम्प्रदायिकानामेवेति च व्यज्यते । साम्प्रदायिकैस्तु सुतरामेवाऽऽस्थेतव्यमिति भावः । विशेषणेनाऽऽधिभौतिकाध्यात्मिकावमी व्यावर्त्तितौ । आधिदैविकत्वं दर्शितम् । साक्षाद्भगवत्प्रापकत्वाद्विरहात्मकत्वाच्च । विरही हि यावदुपायान् वेत्ति विरहं विनिवर्त्तयितुम् । विश्वानीत्यनेन ज्ञानं नाम नाऽवशिष्यते यत्त्वं न वेत्सि । तस्मात्त्वदुदित एव सुपन्था अन्ये कुपथा एवेति भावः । तेन मुख्यं परमब्रह्मवित्त्वमभेरुक्तम् । ब्रह्मवित्त्वमन्तरा सर्वविज्ञानस्याऽनुदयाच्च । सर्वं ब्रह्मेति ज्ञाने शास्त्राणामपि सर्वानतिरिक्तविषयत्वेन ब्रह्मपरत्वावधारणपर्य्यन्तत्वात्सर्वविज्ञानस्य । तदेतदुक्तम्—विद्वानिति । तेषां ब्रह्मपरत्वं विद्वानित्यर्थः । सेवापर्य्यन्तञ्च ब्रह्मपरतेति कृष्णसेवाप्रवर्त्तक इति यावत् । विद्वानित्युपदेष्टृत्वाद्भक्तिमार्गाचार्य्यत्वम् । विद्वानेव हि भगवत्सेवां सर्वशास्त्रार्थभूतां सर्वोत्तमां जानाति करोति कर्त्तुं शक्नोति । ततः सर्वमेवाऽवरं च । सेवितुञ्च । सेव्यञ्च, सेव्यत्वञ्च सेवाभावञ्च सेवाञ्च तत्स्वरूपञ्च । स हि प्रियाप्रियं विजानात्युपहरणीयमनुपहरणीयं शुद्धाशुद्धिं योग्यायोग्यमवसरानवसरम् । त्रिविधं क्लिष्टं नाऽर्पणीयम् । प्रेमानुकूल्मेवाऽर्पणीयम् । प्रेम्णैवाऽर्पणीयमिति । तथाहि । "श्रीकृष्णहार्द्दवित्" "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यम्" "न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः । श्रुतधनकुलकर्म्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु" इति । विद्वान् विदित्वा सेवते । स हि सर्वस्य शास्त्रराशेरयमर्थ इति विदित्वा भगवन्तं तत्सेवाञ्चोपाश्रयति सेवितुं वेत्ति च । वस्त्राभरणभोजनभवनोत्सवादिरूपां सर्वामपि सेवासामग्रीं सर्वोत्तमप्रकारिकां निर्मातुं कुशल एव सेवितुं जानीयात्

मूढः । विद्वानेव च सर्वपुरुषार्थरूपां स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपां च तन्मयस्तां प्रेमरसपरिप्लुतां करोति । प्रीयमाणो हि विद्वान् भवति । नाऽप्रीयमाणः । सार्वदेशिकोऽयं नियमः । यस्तु शुष्कविद्यस्तं विद्वानिति नाऽऽचक्षते । विश्वानि वयुनानीति पुष्टिमार्गीयत्वम् । न हि मर्य्यादायां विश्वानि वयुनानि । "एकस्मिञ्जन्मन्येकमेव शास्त्रमि"ति हि मर्य्यादा । प्रत्यक्षात्सामर्थ्याभावाच्चौचित्याच्च । वैदग्ध्यसनार्थापत्त्या च । तत्रापि वयुनानि । भवन्ति बहवः शब्दतः शास्त्रधारकाः । अर्थतस्तत्रापि याथार्थ्येन धारका विरला एव । वस्तुतस्त्वग्निरेवैको वयुनानि विद्वान् । तत्प्रसादादेवाऽन्यस्य तद्बोधः । वयुनानि विद्वान् । "श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नाऽन्यथथा स्थूलतुषावघातिनाम् । धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चाऽन्यथा । अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः । स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् । इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः । अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् । भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवाऽऽपगाः । न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये"त्यादिभिरुपबृंहणैः प्रेमपर्य्यवसितानि प्रेममयानि विद्वानित्यर्थः । यदि प्रेमान्तानि न जानाति मूढोऽसौ न विद्वान् । विद्वान् श्रीकृष्णसेवातत्परो भवति । "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तममि"ति वाक्यात् । तेन शास्त्रार्थेषु परमकुशलः सर्वहेयोपादेयमीमांसको दार्ढ्येन सर्वापेक्षापरित्यागेन भगवतः सर्वविधप्रेमसेवया परिप्लुतो भोगरागशृङ्गारवस्त्रभूषणपुष्पमण्डपनानाविधान्यशिल्पचित्ररचनापाकवैदग्ध्यजलकेलिनिकुञ्जकल्पनाप्रेङ्खपर्य्यङ्कहिन्दोलादिविविधासङ्ख्यसेवासु लोको-

देव वयुनानि विद्वानिति । विवृतं चैतेन नयेति नयनस्वरूपम् । इदं हि नयनं नयनं यत्किलोपजातप्रकाशस्य निरस्तान्यश्रद्धस्य यथार्थश्रद्धोदयस्य चीयमानगुणगणस्य प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गस्य मार्गे पुरस्सरीभूय पुरः पुरः प्रवृत्तिः । तदर्थमेव प्रागपि "दर्शय" इत्यभ्यर्थितम् । तस्माच्छ्रीमदग्निदेवप्रवर्तितसम्प्रदायपुरस्कारेण सकलशास्त्राणां समन्वयोऽवश्यमेवाऽवधार्यः शिष्येण । गुरुणा चाऽवधारयितव्यः शिष्याय । परम्परा च प्रवर्त्ततामिति शास्त्रार्थोऽयं सिद्धः । एतदुल्लङ्घनं सर्वानर्थकरं सर्वेषां न केवलं साम्प्रदायिकानामेवेति च व्यज्यते । साम्प्रदायिकैस्तु सुतरामेवाऽस्माद्भेतव्यमिति भावः । विशेषणेनाऽऽधिभौतिकाध्यात्मिकावग्नी व्यावर्तितौ । आधिदैविकत्वं दर्शितम् । साक्षाद्भगवत्प्रापकत्वाद्विरहात्मकत्वाच्च । विरही हि यावदुपायान् वेत्ति विरहं विनिवर्तयितुम् । विश्वानीत्यनेन ज्ञानं नाम नाऽवशिष्यते यत्त्वं न वेत्सि । तस्मात्त्वदुदित एव सुपन्था अन्ये कुपथा एवेति भावः । तेन मुख्यं परमब्रह्मवित्त्वमेवोक्तम् । ब्रह्मवित्त्वमन्तरा सर्वविज्ञानस्याऽनुदयाच्च । सर्वं ब्रह्मेति ज्ञाने शास्त्राणामपि सर्वानतिरिक्तविषयत्वेन ब्रह्मपरत्वावधारणपर्यन्तत्वात्सर्वविज्ञानस्य । तदेतदुक्तम्—विद्वानिति । तेषां ब्रह्मपरत्वं विद्वानित्यर्थः । सेवापर्यन्तश्च ब्रह्मपरतेति कृष्णसेवाप्रवर्त्तक इति यावत् । विद्वानित्युपदेष्टृत्वाद्भक्तिमार्गाचार्यत्वम् । विद्वानेव हि भगवत्सेवां सर्वशास्त्रार्थभूतां सर्वोत्तमां जानाति करोति कर्तुं शक्नोति । ततः सर्वमेवाऽवरं च । सेवितुश्च । सेव्यश्च सेव्यत्वश्च सेवाभावश्च सेवाश्च तत्स्वरूपश्च । स हि प्रियाप्रियं विजानात्युपहरणीयमनुपहरणीयं शुद्धाशुद्धिं योग्यायोग्यमवसरानवसरम् । त्रिविधं क्लिष्टं नाऽर्पणीयम् । प्रेमानुकूल्येनैवाऽर्पणीयम् । प्रेम्णैवाऽर्पणीयमिति । तथाहि । "श्रीकृष्णहार्दवित्" "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यम्" "न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः । श्रुतधनकुलकर्म्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु" इति । विद्वान् विदित्वा सेवते । स हि सर्वस्य शास्त्रराशेरयमर्थ इति विदित्वा भगवन्तं तत्सेवाञ्चोपाश्रयति सेवितुं वेत्ति च । वस्त्राभरणभोजनभवनोत्सवादिरूपां सर्वामपि सेवासामग्रीं सर्वोत्तमप्रकारिकां निर्मातुं कुशल एव सेवितुं जानीयाच्च

मूढः । विद्वानेव च सर्वपुरुषार्थरूपां स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपां च तन्मयस्तां प्रेमरसपरिप्लुतां करोति । प्रीयमाणो हि विद्वान् भवति । नाऽप्रीयमाणः । सार्वदेशिकोऽयं नियमः । यस्तु शुष्कविचक्षं विद्वानिति नाऽऽचक्षते । विश्वानि वयुनानीति पुष्टिमार्गीयत्वम् । न हि मर्य्यादायां विश्वानि वयुनानि । "एकस्मिन्नन्यैकमेव शास्त्रमि"ति हि मर्य्यादा । प्रत्यक्षात्सामर्थ्याभावाचौचित्याच्च । वेदव्यसनार्थापत्त्या च । तत्रापि वयुनानि । भवन्ति बहवः शब्दतः शास्त्रधारकाः । अर्थतस्तत्रापि याथार्थ्येन धारका विरला एव । वस्तुतस्त्वग्निरेवैको वयुनानि विद्वान् । तत्प्रसादादेवाऽन्यस्य तद्बोधः । वयुनानि विद्वान् । "श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नाऽन्यथथा स्थूलतुषावघातिनाम् । धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चाऽन्यथा । अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः । स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् । इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः । अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् । भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं [illegible] च मम प्रियः । प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवाऽऽपगाः । न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये"त्यादिभिरुपबृंहणैः प्रेमपर्य्यवसितानि प्रेममयानि विद्वानित्यर्थः । यदि प्रेमान्तानि न जानाति मूढोऽसौ न विद्वान् । विद्वान् श्रीकृष्णसेवातत्परो भवति । "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तममि"ति वाक्यात् । तेन शास्त्रार्थेषु परमकुशलः सर्वहेयोपादेयमीमांसको दार्ढ्येन सर्वापेक्षापरित्यागेन भगवतः सर्वविधप्रेमसेवया परिप्लुतो भोगरागशृङ्गारवस्त्रभूषणपुष्पमण्डपनानाविधान्यशिल्पचित्ररचनापाकवैदग्ध्यजलकेलिनिकुञ्जकल्पनाप्रेङ्खपर्य्यङ्कहिन्दोलादिविविधासङ्ख्यसेवासु लोको-

चरचातुर्यचर्य्यासमाराधितपरमविदग्धशिखामणिनिजप्रेष्ठः प्रमाणे प्रमेये च परनिष्णातो भगवतः समाराधने जीवानां भगवत्कृपापादने च परमनिपुणः । यद्यपि विद्वानेव श्रीकृष्णं समासेवितुं शक्तस्तथापि कृपया स्वानुगान्मूढानपि जीवांस्तादृशप्रेमोपचारादिशिक्षया शिक्षयित्वा विदुषो विधाय सेवायां प्रवर्त्य सेवाफलं प्रापयितुं प्रसिद्धपाण्डित्य इति विद्वानित्युक्तम् । एतेन जीवानां पशुवदज्ञत्वं विदुषाऽनुकम्प्यत्वं च दर्शितम् । तत एव प्रार्थयेते इत्याह— युयोध्यस्मज्जुहुराणमेन इति । अस्माभिः पशुतुल्यैरज्ञैः स्वभावतो विषयासक्तैरस्मान् योक्तरूपान् नानाविधकौटिल्यैः पारोक्ष्येणाऽऽक्रमणैरविदितसञ्चैरलक्षितोत्थनैर्बाधमानमेनोऽपराधं युयोधि पृथक्कुरु वियोजय नाशय नोचितेत्तथा विधेहीत्यर्थः । भवन्ति तथाविधा अप्यपराधा ये शास्त्रदृष्ट्याऽपि नाऽपराधा इति भासन्ते । यथा अविजिघिरसोऽपिपासो निर्भयो भगवानिति ज्ञानम् । किन्तु प्रेमोपचारेष्वेतज्ज्ञानमपकर्षं जनयतीत्यपराधः । न्यग्भूम सितं तु नाऽपराधः । अन्येऽप्येवंविधाः । ते हि सूक्ष्मा दुर्ज्ञेया इत्येकत्वेन क्लीबलिङ्गेन च निर्देशः । माहात्म्यज्ञानेन प्रेमापकर्षः पापप्रतिबन्धरोगक्लेशादिनिराकरणप्रार्थना आर्त्तार्थार्थिभजनं लोकार्थभजनं भगवति दोषदर्शनमित्यादयो ह्यपराधाः सूक्ष्मा जीवेन दुष्परिहारास्त्वयैव विनाशनीया इत्यर्थः । जुहुराणमेनो यत्तीर्थादिभिरशक्यनिरसनं फलमप्रतिबद्ध्य फलसमयेऽपि दुःखाकुर्वत् । किमुत साधनसमये । प्रतिबन्धकस्वभावं हि तत् । "तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः । प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवाऽन्तरधीयते"ति । "न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मन" इत्युक्त्वा "ततश्चाऽन्तर्दधे कृष्ण" इति च गोपीनामपराधो "गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथे"ति श्रीमातृचरणानामिन्द्रकोपादौ रक्षार्थं प्रार्थना प्रेष्ठरक्षाविस्मरणाद्गोपानाम् । यत्र तेषामप्यपराधाः सम्भवन्ति । जयविजयाभ्यां कृतो भक्तापराधः । तत्राऽस्माकं का कथेति भावः । युयोधीति पावनतमत्वमभिदेवाचार्य्यसुपथि प्रवेशस्य दर्शितम्—नैतादृशं पावनतमं किञ्चिदन्यदस्तीति । तत्र हि स्वान् प्रणतान्छरणागतानभिदेवाचार्य्यः परिरक्षति । नेतरत्र । तेनाऽवश्यमेव तत्र प्रवेष्टव्यं प्रयत्नवता कृतार्थबुभूषुणा पुरुषेणेति व्यञ्जितम् । उपसंहरति—भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेमेति । स्वरूपभेदाभावेऽपि

कृपावैशिष्ट्याद्भगवतोऽपेक्षयाऽपि महत्तमाय प्रथममुपाश्रयणीयाय भूयिष्ठाम-सङ्ख्येयां साक्षाद्दण्डवत्प्रणियातपरम्परानुविद्धां निजापकर्षनिवेदनभगवदुत्कर्षा-वधापनप्रार्थनासहस्रतत्प्रवणीभूतचेतस्कां साश्रुपुलकोद्भेदां सगद्गदां नमउक्तिं नमो नम इत्याम्रेडनं विधेम विदधीमहीति । एष साधननिष्कर्षः । एषा सम्प्र-दायप्रवृत्तिः । एषोपनिषत् । एष भगवद्धर्मः । एतदीशत्वमीशस्य । "भगवति जीवैर्नमनमेव कर्तव्यं नाऽधिकं शक्यमिति सिद्धान्त" इति श्रीमदाचार्य-चरणाः । "किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय । लक्ष्मी-कलत्राय किमस्ति देयं वागीश किन्ते वचनीयमस्ती"ति । "नमो नम इत्येता-वत्सदुपशिक्षितमि"ति च । "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोदानक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतमि"ति "नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्व-पापप्रणाशनम् । प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परमि"ति च वचनेन परममङ्गलात्मकनमस्कारेणाऽन्ते मङ्गलाचरणाच्छास्त्रप्रसिद्धिरायुष्मत्पुरुषकता चाऽऽशासितेति । विधेमेत्यनुमहमार्गीयत्वं फलत्वं सर्वैरप्यभ्यर्थनीयत्वञ्च भूमिष्ठाया नमस्कृतेर्दर्शितं प्रार्थितञ्चेति परमं मङ्गलम् ॥ १८ ॥

इह मन्त्रचतुष्टये साकारब्रह्मवादापरपर्यायपुष्टिमार्गसंस्थापकाचार्यवर्य-श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानां स्वरूपाद्युपवर्णितमिति पुष्टिसम्प्रदायस्थानामपरो-क्षम् । अथाऽत्र कश्चिद्विप्रतिपद्येत—कथमेतदिति । तत्रोच्यते । सम्प्रदाय-प्रसिद्ध्या भगवन्मुखावतारत्वमित्यबाल्यतित्वपाषण्डनिरसनसम्प्रदायस्थापना-द्याचार्यचरणचरित्रमुपधारितमतः शास्त्रार्थश्रवणे शास्त्रार्थमुपधारितवतश्च पुष्टि-सम्प्रदायप्रवेशो तदिदमिति प्रत्यभिज्ञोदयावश्यम्भावादुक्तदृष्टयोरन्योन्यैक्यावधा-रणादिति गृहाण । "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती"ति श्रुतेरन्योन्यैक्यावधारणसम्भवेऽपि वस्तुभेदद-र्शिनो मृत्युमयप्रसङ्गात् । ननु सर्वथाऽप्रसिद्धोऽयमर्थः कथमन्येनाऽधिगन्तव्य इति चेन्नैवम् । अप्रसिद्धावपि वाक्यान्यथानुपपत्त्या तादृशं प्रमेयमस्तीति परवशेन प्रतिपत्तव्यत्वात् । आध्यात्मिकाग्नेः कर्मकाण्डीयस्य कर्ममार्गाध्यक्षत्वेन ब्रह्मविद्या-ध्यक्षत्वाभावेन सुपथा नयने सामर्थ्याभावात् । कर्ममार्गस्य सुपथित्वाभावात् । "कर्मपथपिशितनाभासे भूमधूम्रात्मनां भवान् । आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं

मप्वि"त्यादिभ्यो वाक्येभ्यः । भगवद्धर्माङ्गतया तदनुसरणमपि लोकसङ्ग्रहादावेवोपक्षीणमिति न पुरुषार्थजननम् । ब्रह्मविद्यात एव पुरुषार्थसिद्धिनिर्णयात् । "पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायण" इति सूत्रात् । तस्माद्ब्रह्मविद्याप्यक्षस्ततोऽन्य एवाऽग्निराधिदैविकः । तथा सति तादृशप्रमेयस्य वाक्यान्यथानुपपत्त्या स्वीकार्य्यतायां सम्प्रदायप्रसिद्ध्योपस्थितस्य परित्यागेऽनुपस्थितस्य कल्पने चाऽन्यायात् । मानाभावात् । ब्रह्मविद्याप्रचारस्य वैदिकस्य श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणाविर्भावसाकारब्रह्मवादापरपर्य्यायपुष्टिसम्प्रदायप्रवर्त्तनान्तस्याश्रावणाच्च पुष्टिसम्प्रदायतदाचार्य्यचरणाविर्भावयोः परमवैदिकत्वेन सर्वेषामपि वेदानुयायित्वाभिमानिनामनिवार्य्यः परमादरः सिद्ध्यति । प्रतिहताश्च भवन्ति तयोः प्रामाणिकत्वमप्रतिपद्यमानाः परिपन्थिन इत्यलमष्टदृष्टिभिर्दृष्टव्यमिति शुभरोचिषिः शोभताम् ।

नमो नमोऽस्मदीश दास्यसेवनीय सत्पते
नमो नमो मुखाग्निना समस्तमखमस्पते ।
धनर्द्धये नयन्निजान् पथा सताऽपकर्षिणे
नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमः ॥ १ ॥

नमो नमो मुखावतार वाक्पतेऽग्निदेव ते
नमो नमो धियां निधे विधेयतां विधेहि ते ।
नमः स्वपुष्टिदृष्टिवृष्टिसृष्टसृष्टितुष्टये
नमो नमो नमो नमो नमो नमोऽभिपुष्टये ॥ २ ॥

नम. श्रीमद्गोवर्द्धनधरमुखाम्भोज भवते
नमः सर्वेशत्वास्पदपदपयोज प्रभवते ।
नम. सेवामार्गप्रकटनपटो लक्ष्मणवटो
नम· स्वीयाचार्य्य प्रगुणगुण ते देहि शरणम् ॥ ३ ॥

श्रीनन्दनन्दनलसद्वदनारविन्द
वेदोपदिष्ट विबुधेष्टपदारविन्द ।
आचार्य्यवर्य्य निगमागमगम्यरूप
श्रीवल्लभार्य्य भगवत्पथभूप पाहि ॥ ४ ॥

मतान्तरध्वान्तकृतान्तकान्त' श्रीकान्तसेवारससिद्धिकान्तः ।
तदन्यधन्यार्थकथाकटाक्षः श्रीविठ्ठलेशस्य कृपाकटाक्षः ॥ ५ ॥

गोवंशः परिपाल्यते सुविशदः स्वाचार आश्रीयते
यैः प्रेम्णा परिचर्य्यते च भगवान्छ्रीबालकृष्णः प्रभुः ।
श्रीमद्वल्लभदेवदर्शितदिशा स्वाध्या च संरक्ष्यते
ते श्रीगोकुलनाथपूज्यचरणाः सद्भ्यः स्वदन्तेतमाम् ॥ ६ ॥
यैस्तातः करुणापरैर्गुणगणागारैर्महादुस्तरे
व्याधावब्धिसमेऽपि भूरिविभवैः स्वाशीर्भिरप्येव च ।
ये मां श्रीव्रजयात्रया च विधुताशेषाघमेव व्यधु-
स्ते श्रीगोकुलनाथचारुचरणाः कासां गिरां गोचराः ॥ ७ ॥
श्रीकृष्णजीवन इति प्रथितोऽस्य पुत्रो विद्वत्तमो गिरिधरापरनामधेयः ।
श्रीदीक्षितो विविधदर्शनदर्शनीयवैदुष्यवन्ध्यपदविर्जयति द्वितीयः ॥ ८ ॥
श्रीमान् गोपीनाथो मुकुन्दकल्याणरायौ च ।
मथुरानाथो माधवरायश्चैते च पञ्च सुताः ॥ ९ ॥
सताऽप्येते सततसितवर्चसः सदृशाः पितुः ।
पिता चैषां प्रमोदन्तां सहस्रं शरदां भुवि ॥ १० ॥
श्रीनाथसेवाहेवाकैरसाकं साधिताखिलान् ।
देवकीनन्दनाख्योमि तातपादान् पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पुत्रीं पण्डितराजानां मम्मोपाध्यायसद्विदाम् ।
स्वमातृचरणानीडे करुणावरुणालयान् ॥ १२ ॥
श्रीवामनाचार्य्यवुधात्रमामस्तमां नुमो नन्दकिशोरभट्टान् ।
श्रीमट्टपादान् पुरुषोत्तमांश्च तथैव विद्वद्वनुनन्दनांश्च ॥ १३ ॥
गोत्रे काश्यपसे समस्तनिगमन्यायाब्धिमन्थाचला
आन्ध्रा दक्षिणदिग्यथेऽध्वरिवराः श्रीरामचन्द्रा इति ।
तत्पुत्राः पितृतुल्यकीर्तिकृतयो वादीभपञ्चाननाः
श्रीकृष्णाङ्घ्रिरजःपरा हरिहराख्या दीक्षिता जज्ञिरे ॥ १४ ॥
श्रीवल्लभाधीशकृपावलाढ्याः श्रीविठ्ठलाधीशगृहीतहस्ताः ।
गोवर्द्धनाधीश्वरपादपद्मपरागरागैकरसान्तरङ्गाः ॥ १५ ॥

बुद्ध्या स्वरूपेण गुणैः प्रभावाद्गणाधिपस्यैव परावताराः ।
तत्सूनवो दीक्षितधुर्य्यचर्य्याः प्रादुर्भवन्ति स्म गणेशभट्टाः ॥ १६ ॥
श्रीमद्गणेशदीक्षितसहधर्मिण्यः सतीशिखामणयः ।
श्रीशोभादेव्य इति प्रभुचरणानां जयन्ति मुख्यसुताः ॥ १७ ॥
श्रीमत्प्रभुचरणानां कृपारसास्वादसिद्धसर्वार्थः ।
तद्वंशलब्धजन्मा बलभद्रः कृतिमिमां निरमात् ॥ १८ ॥
गोस्वामिनां गोकुलनाथनाम्नामाज्ञानुगो भाष्यमिदं व्यधत्त ।
श्रीदीक्षितैस्तच्चनैर्द्वितीयैः कृतानुमोदो बलभद्रभट्टः ॥ १९ ॥

श्रीमद्भागवतं वदन्त्युपनिषद्भाष्यं तदन्तागमा
नाऽन्यार्थप्रतिपादकस्य गदितुं शक्या ततो भाष्यता ।
एषा टिप्पनिकाऽपि काऽप्युपनिषद्भागे प्रसादीकृता
श्रीमद्वल्लभनन्दनैः करुणया बालस्य भाष्यायते ॥ २० ॥
श्रीमद्भागवतं भाष्यं नाऽन्यद्भाष्यं विधीयते ।
प्रस्थानत्रयभाष्यं हि श्रीभागवतमिष्यते ॥ २१ ॥
"वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।
उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् ।
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नाऽन्यथा ॥ २२ ॥
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन ।"
इत्येतच्छ्रीमदाचार्य्यवचनामृतमानतः ॥ २३ ॥
सर्ववेदान्तसारत्वाच्छ्रीगीताभ्यः परत्वतः ।
परत्वाद्ब्रह्मसूत्रेभ्यो वेद... २४ ॥
व्यासस्य परितोषाच्च सर्वस

ये भाष्याणि विभाव्य भावुकतया सर्वाणि सर्वांशतः
प्रेक्षन्तेऽत्र विशेषमेष मधुरो मूलोत्थितोऽर्थोदयः ।
पूर्णः सोऽप्युपबृंहणेन निखिलाम्नायेषु मुख्येन ते
सन्तः सन्तु सुखान्विताः किमपरैर्दग्धैर्विदग्धैरपि ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णः श्रीमदाचार्य्याः प्रभुपादास्तदुक्तयः ।
चतुष्टयं मे सर्वस्वं भूयाज्जन्मनि जन्मनि ॥ २८ ॥

किं वर्ण्यः श्रीमदाचार्यतत्सून्वोः करुणाकणः ।
मन्दोऽपि मादृशो येन तज्जनानुचरायते ॥ २९ ॥

निधिनयविधौ वर्षे मासि फाल्गुनिके वदि ।
मथुरायां तटे तुर्य्यप्रियायाः प्रतिपद्दवौ ॥ ३० ॥

श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशच्चरणाम्भोजयोर्मया ।
निवेदितो भाष्यपुष्पाञ्जलिरेष समुज्ज्वलः ॥ ३१ ॥

श्रीमदाचार्य्यचरणाः शरणागतवत्सलाः ।
अङ्गीकुर्वन्तु कृपया कृतिमेतां समर्पिताम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमदाचार्य्यचक्रचूडामणिश्रीमद्वल्लभाचार्य्यमहाप्रभुचरणचरणाम्भोजचञ्चरीकेण
श्रीमत्प्रभुचरणपदपङ्कजपरागाभ्यक्तभालपुलिनेन
श्रीमद्गोवर्द्धनोद्धरणधीरपादपद्मसेवाहेवाकाधिगताशेषपुरुषार्थसार्थेन श्रीरामचन्द्रा-
ध्वरिश्रीहरिहरदीक्षितश्रीमद्रणछोडभट्टदीक्षितानुगृहीतकुलजन्मलाभलब्धकीर्त्तिना
त्रिगूढावतंसभट्टश्रीदेवकीनन्दनशर्म्मतनुजनुषा
कीर्त्तिवल्ली-

पण्डितभट्टश्रीवलभद्रशर्म्मणा
कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषण-
कविरसमद्रामहोपदेशकविद्यालङ्कारवेदान्तविद्यानिधि-
सनातनधर्म्ममार्त्तण्डश्रीसुबोधिनीसुधाधाराधरेण
प्रणीतमीशावास्योपनिषदो बालभाष्यं
परिपूर्णम् ।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।
शुभं भूयात् ।

मुख्या सत्त्वेन गुणैः प्रभावाद्गुणाधिपत्येन परावताराः ।
यत्सूनवो दीक्षितपुण्यचर्याः प्रादुर्भवन्ति स्म गणेशभट्टाः ॥ १६ ॥
श्रीमद्गोपेन्द्रदीक्षितमहर्षिभ्यः सान्निध्यान्नयः ।
श्रीसोमादेव्य इति प्रभुचरणानां जयन्ति मुख्यसुताः ॥ १७ ॥
श्रीमत्प्रभुचरणानां कृपाप्रसादादसिद्धसर्वार्थः ।
तद्वंशरूपजन्मा मत्प्रभुः कृतिमिमां निरमात् ॥ १८ ॥
गोस्वामिना गोकुलनाथनाम्नाज्ञानुगो भाष्यमिदं व्यधत्त ।
श्रीदीक्षितैस्तद्घनयैर्द्वितीयैः कृतानुमोदो मत्प्रभुवर्गः ॥ १९ ॥

श्रीमद्भागवतं यदन्त्युपनिषद्भाष्यं वदन्त्यागमा
नान्यार्थप्रतिपादकस्य गदितुं शक्यया ततो भाष्यता ।
एषा टिप्पणिकाऽपि काऽप्युपनिषद्भागे प्रसादीकृता
श्रीमद्वल्लभनन्दनैः करुणया भाष्यस्य भाष्यायते ॥ २० ॥
श्रीमद्भागवतं भाष्यं नान्यद्भाष्यं विधीयते ।
प्रस्थानत्रयभाष्यं हि श्रीभागवतमिष्यते ॥ २१ ॥
"वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।
उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् ।
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नाऽन्यथा ॥ २२ ॥
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन ।"
इत्येतच्छ्रीमदाचार्यवचनामृतमानतः ॥ २३ ॥
सर्ववेदान्तसारत्वाच्छ्रीगीताभ्यः परत्वतः ।
परत्वाद्ब्रह्मसूत्रेभ्यो वेदद्रुमफलत्वतः ॥ २४ ॥
व्यासस्य परितोषाच्च सर्वसन्देहवारणात् ।
मूर्धत्वात्सर्वशास्त्राणां सर्वशास्त्रपरत्वतः ॥ २५ ॥
परप्रामाण्ययोगाच्च सदन्तागमनिर्णयात् ।
भाष्यान्तरस्य भाष्यत्वं नालोपच्छन्दनादिभिः ॥ २६ ॥

ये भाष्याणि विभाव्य भावुकतया सर्वाणि सर्वांशतः
प्रेक्षन्तेऽत्र विशेषमेष मधुरो मूलोत्थितोऽर्थोदयः ।
पूर्णः सोऽप्युपबृंहणेन निखिलाम्नायेषु मुख्येन ते
सन्तः सन्तु सुखान्विताः किमपरैर्दग्धैर्विदग्धैरपि ॥ २७ ॥
श्रीकृष्णः श्रीमदाचार्याः प्रभुपादास्तदुक्तयः ।
चतुष्टयं मे सर्वस्वं भूयाज्जन्मनि जन्मनि ॥ २८ ॥
किं वर्ण्यः श्रीमदाचार्यतत्सून्वोः करुणाकणः ।
मन्दोऽपि मादृशो येन तज्जनानुचरायते ॥ २९ ॥
निधित्रयविधौ वर्षे मासि फाल्गुनिके यदि ।
मथुरायां तटे तुर्य्यमियायाः प्रतिपद्दवौ ॥ ३० ॥
श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशचरणाम्भोजयोर्मया ।
निवेदितो भाष्यपुष्पाञ्जलिरेष समुज्ज्वलः ॥ ३१ ॥
श्रीमदाचार्य्यचरणा· शरणागतवत्सलाः ।
अङ्गीकुर्वन्तु कृपया कृतिमेतां समर्पिताम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमदाचार्य्यचक्रचूडामणिश्रीमद्वल्लभाचार्य्यमहाप्रभुचरणचरणाम्भोजचञ्चरीकेण
श्रीमत्प्रभुचरणपदपङ्कजपरागाभ्यक्तभालपुलिनेन
श्रीमद्गोवर्द्धनोद्धरणधीरपादपद्मसेवाहेवाकाधिगताशेषपुरुषार्थसार्थेन श्रीरामचन्द्रा-
च्चरिश्रीहरिहरदीक्षितश्रीमद्गणेशभट्टदीक्षितानुगृहीतकुलजन्मलब्धकीर्त्तिना
त्रिगृहावतंसभट्टश्रीदेवकीनन्दनशर्म्मतनुजनुषा
कीर्त्तिवल्ली-

पण्डितभट्टश्रीवलभद्रशर्म्मणा
कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषण-
कविरत्नमहामहोपदेशकविद्यालङ्कारवेदान्तविद्यानिधि-
सनातनधर्म्ममार्त्तण्डश्रीसुबोधिनीसुधाधाराधरेण
प्रणीतमीशावास्योपनिषदो बालभाष्यं
परिपूर्णम् ।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।
शुभं भूयात् ।

---

१५ ईशा०

